एतच्छास्त्रश्रवणाभ्यासात्पौनःपुन्येन वीक्षणात् ।
परा नागरतोदेति महत्त्वगुणशालिनी ॥ १ ॥
बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ।
जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुते समनुभूयते ॥ २ ॥
(योगवासिष्ठ २।१८।३६,८ ; ३।८।१३, १५)

इस शास्त्रके बार बार पढ़नेसे और इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंसे भलीभाँति व्यवहारमें लानेसे मनुष्यमें महान् गुणोंवाली नागरिकताका उदय होता है। इस ग्रन्थके श्रवणसे बुद्धिमें परम ज्ञानका उदय हो जाता है और जीवन्मुक्तिका अनुभव होने लगता है।

विचार किया। सन् १९२५ के दिसम्बर मासमें भारतीय दर्शन परिषद् (Indian Philosophical Congress) के कलकत्तेवाले प्रथम अधिवेशनमें लेखकने इस विषय सम्बन्धी प्रथम लेख, "दी फ़िलोंसोफ़ी ऑफ़ वसिष्ठ" (The Philosophy of Vasistha) नामकको पढ़ कर विद्वानोंका ध्यान इस ओर आकर्षित किया। तबसे लेखक तीन चार साल तक इस परिषद्के प्रत्येक अधिवेशनमें लेखकने योगवासिष्ठ सम्बन्धी चर्चा की। जुलाई सन् १९२८ में "दी फ़िलोंसोफ़ी ऑफ़ वसिष्ठ ऐज़ प्रेज़ेण्टेड इन दी योगवासिष्ठ" (The Philosophy of Vasistha as Presented in the Yogavāsistha) नामक एक निबन्ध (Thesis) लिखकर लेखकने हिन्दू विश्वविद्यालयको 'डाक्टर ऑफ़ लेटर्स' (Doctor of Letters) नामकी सर्वोच्च उपाधिके लिये दिया। उसकी परीक्षाके लिये विश्वविद्यालयने कई यूरोपियन और भारतीय विद्वानोंकी एक परीक्षकसमिति नियुक्त की। उनकी सहमतिसे सन् १९३० के उपाधि-वितरणोत्सव पर लेखकको हिन्दू विश्वविद्यालयने डी. लिट्. (D. Litt) की उपाधि प्रदान की। कई कारणों से इस निबन्धके प्रकाशित करानेका कोई आयोजन नहीं किया गया, और वह लेखकके पुस्तकालयमें बरसों लापरवाहीसे पड़ा रहा। कुछ मित्रोंके अनुरोधसे सन् १९३२ में लेखकने 'काशी-तत्त्व-सभा' के अधिष्ठातृत्वमें थियोसोफ़िकल सोसाइटी, काशीके प्रसिद्ध भवनमें योगवासिष्ठ सम्बन्धी दस व्याख्यान दिये। सन् १९३२ में ही इनमेंसे प्रथम पाँच व्याख्यान 'थियोसोफ़ी इन् इण्डिया' (Theosophy in India) नामक पत्रमें छपकर पुस्तकाकारमें प्रकाशित हुए। इस पुस्तकका नाम "योगवासिष्ठ ऐण्ड इट्स फ़िलोंसोफ़ी" (Yogavāsistha and Its Philosophy) पड़ा, और यह पुस्तक अल्प कालमें ही विद्वज्जन-सम्मानित और लोकप्रिय हो गई। इसको पढ़नेवालोंसे लेखकके पास अनेक प्रशंसापत्र आने लगे। उसी

समय लेखक ने हिन्दी में एक छोटी सी पुस्तिका "वासिष्ठदर्शनसार" नामक भी प्रकाशित कराई, जिसमें सारे योगवासिष्ठ का १५० श्लोकों में सार देकर उनका हिन्दी अनुवाद कर दिया था। इन दोनों पुस्तकों के छपने पर लेखक के पास ऐसे अनेक पत्र आये जिनमें योगवासिष्ठ पर कोई बड़ा ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिये अनुरोध था। इसी बीच में सन् १९३४ में काशी तत्त्व सभा में दिए हुए शेष पाँच व्याख्यान भी "योगवासिष्ठ ऐण्ड मॉडर्न थॉट" (Yogavāsiṣṭha and Modern Thought) नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो गये। विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं ने इस पुस्तक की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। आवागढ़ रियासत के अधिपति श्री राजा सूर्यपालसिंहजी साहब को तो यह पुस्तक इतनी पसन्द आई कि उन्होंने अपने श्रीगुरु-से पूज्य मालवीय जी के सामने इसकी बहुत प्रशंसा की और उनके द्वारा लेखक के पास १००१ रुपये का चेक पारितोषिक के रूप में भेजने की कृपा की। लेखक राजा साहब की इस कृपा का—जिसको प्राप्त करने के लिये लेखक ने नाममात्रको भी प्रयत्न नहीं किया था और जिसकी लेखकने स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की थी—अपनेको सदाके लिये अनुगृहीत मानता रहेगा। राजा साहब के इस सात्त्विक दान की जितनी प्रशंसा की जाए उतनी ही थोड़ी है, क्योंकि उनसे लेखक का न कोई पूर्व परिचय था और न लेखक ने उनके पास पुस्तक की कोई प्रति ही भेजी थी। इन दो पुस्तकों को अंग्रेजी में प्रकाशित होने से लेखक को कई ऐसे मित्रोंके प्राप्त होने का सौभाग्य मिला जो लेखक के योगवासिष्ठ-सम्बन्धी बड़े ग्रन्थ को प्रकाशित कराने के लिये बहुत उत्सुक हो गये। इन मित्रोंमेंसे मद्रास प्रान्तके दक्षिण कनारा जिलेके एक रिटायर्ड कस्टम्स ऑफिसर श्री वी० सुब्बराव साहबका शुभनाम विशेषत उल्लेखनीय है। उन्होंने मद्रास जाकर वहाँपर थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार (Theosophical Publishing House, Adyar) के

विचार किया। सन् १९२५ के दिसम्बर मासमे भारतीय दर्शन परिषद् (Indian Philosophical Congress) के कलकत्तेवाले प्रथम अधिवेशनमे लेखकने इस विषय सम्बन्धी प्रथम लेख "दी फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ वसिष्ठ" (The Philosophy of Vasistha) नामकरो पढ़ कर विद्वानोका ध्यान इस ओर आकर्षित किया। तबसे लेकर तीन चार साल तक इस परिषद्के प्रत्येक अधिवेशनमें लेखकने योगवासिष्ठ सम्बन्धी चर्चा की। जुलाई सन् १९२८ मे "दी फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ वसिष्ठ ऐज़ प्रेज़ेण्टेड इन दी योगवासिष्ठ" (The Philosophy of Vasistha as Presented in the Yogvāsistha) नामक एक निबन्ध (Thesis) लिखकर लेखकने हिन्दू विश्वविद्यालयको 'डाक्टर ऑफ़ लेटर्स' (Doctor of Letters) नामकी सर्वोच्च उपाधिके लिये दिया। उसकी परीक्षाके लिये विश्वविद्यालयने कई यूरोपियन और भारतीय विद्वानोकी एक परीक्षकसमिति नियुक्त की। उनकी सहमतिसे सन् १९३० के उपाधि-वितरणोत्सव पर लेखकको हिन्दू विश्व-विद्यालयने डी. लिट्. (D. Litt) की उपाधि प्रदान की। कई कारणों से इस निबन्धके प्रकाशित करानेका कोई आयोजन नहीं किया गया, और वह लेखकके पुस्तकालयमें बरसों लापरवाहीसे पड़ा रहा। कुछ मित्रोंके अनुरोधसे सन् १९३२ मे लेखकने 'काशी-तत्त्व-सभा' के अधिष्ठातृत्वमें थियोसोफिकल सोसाइटी, काशीके प्रसिद्ध भवन-मे योगवासिष्ठ सम्बन्धी दस व्याख्यान दिये। सन् १९३२ में ही इनमेंसे प्रथम पाँच व्याख्यान 'थियोसोफ़ी इन् इण्डिया' (Theosophy in India) नामक पत्रमें छपकर पुस्तकाकारमे प्रकाशित हुए। इस पुस्तकका नाम "योगवासिष्ठ ऐण्ड इट्स फ़िलॉसोफ़ी" (Yogvāsistha and Its Philosophy) पड़ा, और यह पुस्तक अल्प कालमें ही विद्वज्जन-सम्मानित और लोकप्रिय हो गई। इसको पढ़नेवालोंसे लेखकके पास अनेक प्रशंसापत्र आने लगे। उसी

पुस्तक "श्रीवासिष्ठदर्शनम्" नामक भी यू० पी० गवर्नमेण्टकी "प्रिन्सेस ऑफ़ वेल्स टेक्स्ट्स" मालामें प्रकाशित हो गई। इस कृपाके लिये लेखक कविराज जी का बहुत कृतज्ञ है।

राष्ट्र भाषा हिन्दीमें भी योगवासिष्ठ पर एक बड़ी पुस्तक प्रकाशित करनेकी अभिलाषा लेखकके मनमें बहुत दिनोंसे थी, लेकिन अन्य कार्योंकी अधिकतासे अवकाश न मिलनेके कारण यह अभिलाषा बहुत दिनों तक पूरी न हो सकी। प्रस्तुत पुस्तकके आरम्भ होनेका सबसे अधिक श्रेय काशीके पत्र "सनातनधर्म" के सहकारी सम्पादक पण्डित गया प्रसाद ज्योतिषी जीको है। उनके अनुरोधसे ही यह पुस्तक "सनातनधर्म" में एक लेखमालाके रूपमें १ मार्च सन् १९३४ को आरम्भ हुई थी। कुछ दिनों तक तो यह लेखमाला चलती रही, किन्तु फिर अवकाशके अभावसे बन्द हो गई। उस मालामें जितने लेख छपे थे वे ज्ञानमण्डल प्रेस, काशी की कृपासे साथ साथ पुस्तकाकारमें भी छप गये थे। लेखमाला स्थगित होनेसे पुस्तक भी स्थगित हो गई। इस बीचमें सनातनधर्मका टाइप भी बदल गया। पुस्तक कब प्रकाशित होगी इस सम्बन्धमें अनेक चिट्ठियाँ आनेसे, और श्रीमती आत्रेयके पुस्तकको पूरा कर देनेके बारबारके अनुरोधसे, जब जितना

---

and peace I am now 47 years of age and have struggled through many cr ses in life But your hook has given me a new insight of life and I have found peace solace and rest which I could not succeed in gett ng so long I therefore owe you a deep gratitude for opening up a new avenue in l fe Yogavasistha in orig nal was in itself incomprehensible a d its hugeness and constant repetitions were baffling Your book has cleared up everything and it is now possible for us to fathom its deep sea. Hence I although a stranger acknowledge my gratitude. May I make one request ? Will you bring out a H nd Ed on of the book f the

those

teach

now

of yours infuse a new l fe into the decaying nerves of India ! Every step should be taken to popularise this teaching Kindly excuse me for writing th s letter Yours truly,

"

प्रबन्धकोंके सामने लेखककी प्रकाशित पुस्तकोंकी बहुत प्रशंसा की, और उनसे उसकी बृहत् पुस्तकके प्रकाशित करनेका सफल अनुरोध किया। वहाँके मैनेजर महोदयने तुरन्त ही लेखकसे उस पुस्तककी हस्तलिखित प्रति मँगाई, और पुस्तकको प्रकाशित करनेकी स्वीकृति एक सप्ताहके भीतर ही भेज दी। लेखक श्री सुब्बराव साहबकी इस कृपाका जन्म-भर ऋणी रहेगा। थियोसोफिकल पब्लिशिङ्ग हाउसका भी लेखक सदाके लिये कृतज्ञ है, क्योंकि उसके मैनेजर महोदयने इस बृहत् पुस्तकके छपवाने और प्रकाशित करानेमें विशेष कष्ट उठाया है, और इसको बहुत सुन्दर और शुद्ध रूपमें निकालनेका प्रयत्न किया है। दिसम्बर सन् १९३६ में यह बृहत् ग्रन्थ "दी फिलॉसोफी ऑफ दी योगवासिष्ठ" (The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha) नामसे प्रकाशित हुआ। पृथ्वी-मण्डलके प्रायः सबही सभ्य देशोंमें इसको आशातीत सम्मान मिल रहा है। विद्वानों, समालोचकों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी दिल खोल कर प्रशंसा की है। इसके लिये वे सब लेखकके धन्यवादके पात्र हैं। इस पुस्तक के अनेक पाठकोंके पाससे लेखक के पास जो समय समयपर चिट्ठियाँ आती रहती हैं, उनसे ज्ञात होता है कि योगवासिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्तोंसे कुछ लोगोंके संतप्त चित्तको बहुत शान्ति मिली है *। अंग्रेजी पुस्तक "The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha" के साथ साथ ही गवर्नमेण्ट कालेज बनारसके भूतपूर्व प्रिंसिपल विद्वच्छिरोमणि पं० गोपीनाथ कविराज जीकी कृपासे लेखककी संस्कृत

---

*बहुत सी ऐसी चिट्ठियोंमें से केवल एकको ही जैसीकी तैसी (अंग्रेजी भाषामें) पाठकोंके सामने प्रस्तुतकर देना यहाँपर अनुचित नहीं जान पड़ता :—

"Dear Dr Atreya,

Allow me a stranger to address you and to express my deep obligations that I owe you for writing such a splendid book, "The Philosophy of the Yogavasistha" I read a large number of theosophical books, and also Krishnamurti, Trine, Marden, James Allen, Buddhism, a number of Commentaries on the Bhagwadgita and Upanishads etc., but nowhere I got satiety

योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त

—*—

अवकाश मिला उतना ही अंश इस पुस्तकका लिख कर छपवाया गया। इस रीतिसे आज इस पुस्तकका प्रथम भाग समाप्त हो पाया है। पहिले तो विचार यही था कि पूरा ग्रन्थ एक ही जिल्दमें छपे। लेकिन इस विचारसे कि ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाएगा, इसको दो भागोंमे विभक्त कर दिया है। प्रथम भाग पाठकों के सामने है। दूसरे भागमें योग वासिष्ठका तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन होगा। सारी पुस्तक एक साथ न लिखे जाने और छपनेके कारण इस पुस्तकमें शैली, क्रम और व्याख्याके कुछ दोषोंका आ जाना स्वाभाविक ही है। आशा है कि पाठक और समालोचक उनके लिये लेखकको क्षमा करेंगे। इस पुस्तकमें लेखकने योगवासिष्ठके संस्कृत श्लोकोंका अक्षरश हिन्दी अनुवाद करनेका साहस नहीं किया, पर जहाँतक हो सका है योगवासिष्ठके भावोंको ही हिन्दुस्तानी भाषामें पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न किया है। श्लोकोंके अनुवादके साथ यदि लेखकने अपनी ओरसे कोई बात लिखी है, तो उसको कोष्ठके भीतर लिखा है। श्लोकोंके आगेवाले कोष्ठोंके भीतर निर्णयसागरप्रेस बम्बईसे प्रकाशित संस्कृत ग्रन्थ योगवासिष्ठके प्रकरण, सर्ग, और श्लोकोंके अङ्क दिये गये हैं, ताकि पाठकोंको यह ज्ञात हो जाए कि अमुक श्लोक मूलग्रन्थमें किस स्थानपर है।

इस पुस्तकका अनुक्रमणिकाके बनानेमें लेखकके प्रिय शिष्य और मित्र, श्री श्यामसुन्दर खत्री "सुन्दर" और उनकी सुयोग्य बहिन कुमारी सावित्रीने सहायता दी है। इसके लिये वे दोनों लेखकके धन्यवादके पात्र हैं। पुस्तकके इस समय समाप्त हो जानेका बहुत सा श्रेय लेखककी धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मी आत्रेयको है, इसलिये लेखक उनको भी धन्यवाद देकर इस प्रस्तावनाको समाप्त करता है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
विजयदशमी
सम्वत् १९९२ वि० }

भी० ला० आत्रेय

परिच्छेद १

योगवासिष्ठ का भारतीय दार्शनिक साहित्य में स्थान

श्री योगवासिष्ठ संस्कृत भाषा का एक बृहत् ग्रन्थ है जो योगवासिष्ठ महारामायण, महारामायण, आर्षरामायण, वासिष्ठरामायण, ज्ञानवासिष्ठ और वासिष्ठ आदि नामों से भी ज्ञात है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसका पाठ, मूल तथा भाषानुवाद में, बहुत काल से होता चला आ रहा है। जो महत्त्व भगवद्भक्तों के लिए श्रीमद्भागवत और श्रीरामचरितमानस का, और कर्मयोगियों के लिये श्रीमद्भगवद्गीता का है, वही महत्त्व ज्ञानियों के लिये श्री योगवासिष्ठ का है। सहस्रों स्त्री-पुरुष—राजा से लेकर रङ्क तक—इस विचित्र ग्रन्थ के अध्ययन से अपने जीवन में आनन्द और शान्ति प्राप्त करते हैं। प्रायः सब ही प्रकार के पाठकों के अनुमोद के लिये इस ग्रन्थ में सामग्री प्रस्तुत है। जहाँ अबोध बालक भी इसकी कहानियाँ सुनकर प्रसन्न होते हैं, वहाँ बड़े बड़े विद्वानों की समझ से बाहर की उलझनों और गहनतम दार्शनिक सिद्धान्तों का इसमें प्रतिपादन है। हमारी समझ में तो यह ग्रंथ महान् और विशाल हिमाचल के सदृश है। पृथ्वी तल पर स्थित होने से प्रायः सभी लोगों की पहुँच हिमालय तक है, लेकिन विरले ही साहसी और पुरुषार्थी खोजक उसके उत्तुङ्ग शृङ्गों को स्पर्श करते हैं। यही हाल योगवासिष्ठ का है। यह ऐसा अद्भुत ग्रंथ है कि इसमें काव्य, उपाख्यान तथा दर्शन, सभी का आनन्द वर्तमान है। भारतीय मस्तिष्क की सर्वोत्तम कृतियों में से यह ग्रंथ एक है। ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने और ब्रह्म भाव में स्थित रह कर संसार में व्यवहार करने के निमित्त इस ग्रंथ का पाठ, मनन और निदिध्यासन सर्वोत्तम साधन है।

ऐसा मत केवल हमारा ही नहीं है, वरन् उन सब महापुरुषों

का है जिन्होंने इस ग्रन्थ का अमृतरस पान किया है। आधुनिक समय के परमहंस ब्रह्मनिष्ठ श्री स्वामी रामतीर्थजी महाराज ने अमेरिका में अपने एक व्याख्यान "भारत की प्राचीन आध्यात्मिकता" में योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में कहा है, "भारत की सर्वोत्तम पुस्तकों में से एक—और मेरे मतानुसार तो संसार की सभी पुस्तकों से अद्भुततम पुस्तक—योगवासिष्ठ है। यह असम्भव है कि कोई इस ग्रन्थ का अध्ययन कर ले और उसको ब्रह्मभावना न हो और वह सबके साथ एकता का अनुभव न करे" (इन दी वुड्स ऑफ गॉड-रिअलाइजेशन, वॉल्यूम ७, पञ्चम संस्करण १६३२, पृ० ६५)। काशी के जगद्विख्यात विद्वान् श्री डाक्टर भगवान्दास जी योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में अपनी एक पुस्तक (मिस्टिक एक्सपीरिएन्सेज) की भूमिका में लिखते हैं—"संस्कृत के ग्रन्थ योगवासिष्ठ का—जिसमें कि ३२ सहस्र श्लोक हैं—भारतीय वेदान्तियों में, इसके दार्शनिक सिद्धान्त, आत्मानुभवप्राप्ति के साधनों तथा इसके साहित्यिक सौन्दर्य और काव्यमय होने के कारण बहुत ही आदर है। वेदान्तियों में तो यह उक्ति प्रचलित है कि यह ग्रंथ सिद्धावस्थामें अध्ययन करने के योग्य है और दूसरे ग्रन्थ भगवद्गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र साधनावस्था में अध्ययन किए जाने योग्य हैं।" योगवासिष्ठ के भाषानुवाद की भूमिका में, ब्रह्माभ्यासियों में प्रसिद्ध स्व० लाला बैजनाथ जी ने लिखा है—"वेदान्त में कोई ग्रन्थ ऐसा विस्तृत और अद्वैत सिद्धान्त को इतने आख्यानों और दृष्टान्तों और युक्तियों से ऐसा दृढ़ प्रतिपादन करनेवाला आजतक नहीं लिखा गया, इस विषय में सभी सहमत हैं कि इस एक ग्रन्थ के विचार से ही कैसा ही विषयासक्त और संसार में मग्न पुरुष हो वह भी वैराग्य-सम्पन्न होकर क्रमशः आत्मपथ में विश्रान्ति पाता है। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आई है कि इस ग्रन्थ के सम्यक् विचार करनेवाले यथेच्छाचारी होने के स्थान में अपने कार्य को लोकोपकारार्थ, उसी दृष्टि से कि जिस दृष्टि से श्री रामचन्द्रजी करते थे, करते हुए उनकी नाईं स्व-स्वरूप में सदा जागते हैं।" (योगवासिष्ठ महारामायण—भाषानुवाद समेत—भाग २, भूमिका, पृ० ७)

'यह वेदान्त के सब ग्रंथों में शिरोमणि है और कोई मुमुक्षु उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता" (यो०म०, भा०, भाग १, भूमिका, पृ० ७)। पंजाब के वर्तमान ब्रह्मनिष्ठ उर्दू कवि मुन्शी सूर्यनारायण 'महर' ने लघु योगवासिष्ठ के अपने उर्दू अनुवाद की भूमिका में लिखा है—"जो योगवासिष्ठ पढ़ता है वह जरूर ही ज्ञानी हो जाता है"। (योग-वासिष्ठसार (उर्दू) पृष्ठ ६)।

योगवासिष्ठ का लेखक—वह चाहे जो कोई हो—स्वयं अपने ग्रंथ के महत्त्व को अच्छी तरह जानता था। स्वयं वह कहता है, और ठीक ही कहता है:—

शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम्।
काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम् ॥१॥ (२।१८।३३)
अस्मिञ्श्रुते मते ज्ञाते तपोध्यानजपादिकम्।
मोक्षप्राप्तौ नरस्येह न किंचिदुपयुज्यते ॥२॥ (२।१८।३५)
सर्वदुःखक्षयकरं परमाश्वासनं धियः। (२।१०।६)
सुखदुःखक्षयकरं महानन्दैककारणम् ॥३॥ (२।१०।७)
य इदं शृणुयान्नित्यं तस्योदारचमत्कृतेः।
बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ॥४॥ (३।८।१३)

अर्थात्—यह शास्त्र सुबोध है। अलङ्कारों से विभूषित है। सुंदर और रसपूर्ण काव्य है। और इसके सिद्धान्त दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं ॥१॥ मोक्ष प्राप्ति के लिए इस ग्रंथ का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर लेने पर तप, ध्यान और जप आदि किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती ॥२॥ यह ग्रंथ सब दुःखों का क्षय करने वाला, बुद्धि को अत्यन्त आश्वासन देने वाला, और महा आनन्द प्राप्ति का एकमात्र साधन है ॥३॥ जो इसको नित्य श्रवण करता है उस प्रकाशमयी बुद्धि वाले को बोध से भी परे का बोध हो जाता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥४॥

वेदान्त के प्रायः सभी मध्यकालीन लेखकों के ऊपर इस ग्रंथ का किसी न किसी रूप से प्रभाव पड़ा है। योगवासिष्ठ के साथ साथ यदि भर्तृहरि के वैराग्यशतक और वाक्यपदीय, गौडपादाचार्य की माण्डूक्यकारिका, श्री शंकराचार्य की विवेकचूडामणि,

आत्मबोध, स्वात्मनिरूपण, शतश्लोकी तथा अपरोक्षानुभूति और सुरेश्वराचार्य के **मानसोल्लास** का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो भलीभाँति ज्ञात हो जायगा कि अद्वैत वेदान्त के मध्य कालीन आचार्यगण योगवासिष्ठ के कितने ऋणी हैं (इस विषय का प्रतिपादन आगे किया जायगा। नवीं शताब्दी के पूर्व भाग में ही—जब कि श्री शंकराचार्य वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त का पुनरुद्धार करने में सफल हो चुके थे—इस वृहत् ग्रन्थ का एक संक्षेप—लघु **योगवासिष्ठ** नामक—लगभग ६००० श्लोकों में, कश्मीर के पण्डित अभिनन्दन गौड़ द्वारा किया गया (**टर्निट्ज़-गेशिस्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर** वॉ. ३, पृ. ४४३) । उस समय से योग वासिष्ठ का—जो कि पहले वृहत् होने के कारण कठिनता से उपलब्ध होता था—खूब प्रचार हो गया। वेदान्त के प्रसिद्ध लेखक विद्यारण्य स्वामी के **जीवन्मुक्तिविवेक** और **पंचदशी**, नारायण भट्ट के **भक्ति-सागर**, प्रकाशात्मा की **वेदान्तसिधान्तमुक्तावली**, और **शिवसंहिता**, **हठयोगप्रदीपिका** तथा **रामगीता** इत्यादि ग्रंथों में योगवासिष्ठ की उक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। केवल **जीवन्मुक्ति विवेक** में ही योगवासिष्ठ के २५३ श्लोक उद्धृत हैं।

केवल इतना ही नहीं, गहरी खोज करने पर लेखक को यह भी पता चला है कि १०८ प्रसिद्ध उपनिषदों में से कुछ **उपनिषद्** ऐसे हैं जो कि—सब के सब अथवा जिनके कुछ (प्रधान) भाग—योगवासिष्ठ में से चुने हुए श्लोकों से ही बने हैं, अथवा जिनमें कहीं कहीं पर योगवासिष्ठ के श्लोक भी पाए जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन काल में हस्तलिखित पुस्तकें होने से योगवासिष्ठ जैसा बड़ा ग्रंथ आसानी से उपलब्ध न होने के कारण, लोगों ने इसमें से अपनी-अपनी रुचि के अनुसार श्लोकों को छाँट कर उनका संग्रह करके उसका नाम उपनिषत् रख लिया। लेखक के अनुसार निम्नलिखित उपनिषदों में योगवासिष्ठ के श्लोक पाए जाते हैं (देखिए **सरस्वतीभवन स्टडीज़** १६३३ में हमारा लेख "योगवासिष्ठ और कुछ उपनिषद्")।

१ महा उपनिषद्—केवल पहिला, छोटासा भूमिकामय अध्याय छोड़ कर सारा उपनिषद् योगवासिष्ठ के ही (५१० के लगभग) श्लोकों से बना है।

२ अन्नपूर्णा उपनिषद्—सम्पूर्ण। (आरम्भ के १७ श्लोक छोड़ कर)

३ अक्षि उपनिषद्—सम्पूर्ण।

४ मुक्तिकोपनिषद्—दूसरा अध्याय जो कि मुख्य अध्याय है।

५ वराह उपनिषद्—चौथा अध्याय।

६ बृहत्संन्यासोपनिषद्—५० श्लोक।

७ शांडिल्य उपनिषद्—१८ श्लोक।

८ याज्ञवल्क्य उपनिषद्—१० श्लोक।

९ योगकुण्डली उपनिषद्—३ श्लोक।

१० पैङ्गल उपनिषद्—१ श्लोक।

इनके अतिरिक्त दूसरे कुछ ऐसे उपनिषद् भी हैं जिनमें योगवासिष्ठ के श्लोक तो अक्षरशः नहीं पाये जाते लेकिन योगवासिष्ठ के सिद्धान्त अवश्य ही मिलते हैं। अभी तक यह कहना कठिन है कि ये योगवासिष्ठ के पहिले के हैं अथवा पीछे के। वे ये हैं:—

१ जाबाल उपनिषद्—समाधिखण्ड।

२ योगशिखोपनिषद्—१।३४-३७; १।५६, ६०; ४ (समस्त) ६।५८, ५६-६४।

३ तेजोबिन्दूपनिषद्—समस्त।

४ त्रिपुरतापिनी उपनिषद्—उपनिषद् ५, श्लोक १-१६।

५ सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्—द्वितीयखण्ड, श्लोक १२-१६।

६ मैत्रायण्युपनिषद्—प्रपाठक ४, श्लोक १—११।

७ अमृतबिन्दूपनिषद्—श्लोक १—५।

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि भारतीय दर्शन में योगवासिष्ठ का बहुत ऊँचा स्थान है और भारतीय दर्शन के इतिहास

में इसका महत्त्व उपनिषद् और भगवद्गीता से किसी प्रकार कम नहीं वरन् अधिक ही रहा है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतीय दर्शन के आधुनिक विद्वानों का इसकी ओर कम ध्यान गया है। हमारे दर्शन के इतिहास लेखकों ने इसकी अक्षम्य अवहेलना की है। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के **भारतीय दर्शन के इतिहास** के प्रथम भाग में, जहाँ कि इस ग्रन्थ का उच्च स्थान होना चाहिए था, योगवासिष्ठ का नाम तक भी नहीं आया। हर्ष की बात है कि दूसरे भाग में उन्होंने अब इसको स्थान दे दिया है। प्रो० राधाकृष्णन् के **भारतीय दर्शन** में भी योगवासिष्ठ पर कुछ भी नहीं लिखा गया। प्रो० हिरियण्ण की पुस्तक **आउटलाइन ऑफ इण्डियन फिलासोफी** में भी योगवासिष्ठ का नाम तक नहीं आता। प्रो० अभ्यङ्कर ने अपने सम्पादन किए हुए **सर्व दर्शन संग्रह** के अन्त में दी हुई भारत के दर्शन ग्रन्थों की नामावली में भी योगवासिष्ठ का नाम नहीं दिया। यही सबसे बड़ा कारण है कि लेखक को इस विषय में अपनी लेखनी उठानी पड़ी।

यही बात नहीं है कि योगवासिष्ठ की ओर आधुनिक लेखकों का ध्यान नहीं गया, वरन् कुछ लोगों ने इसका जिक्र करते हुए इसके प्रति अपनी विपरीत भावना का भी परिचय दिया है। डा० विण्टर्निज ने अपने 'भारतीय साहित्य के इतिहास', **गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर, वॉ, ३** के ४४३ पृष्ठ पर लिखा है, "वेदान्त के कुछ ग्रंथों के सम्बन्ध में यह शंका होती है कि वे दार्शनिक ग्रंथ हैं अथवा धार्मिक (साम्प्रदायिक)। यही बात योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह अधिकतर साम्प्रदायिक ही पुस्तक है।" इसी प्रकार डा० फर्कुहार साहब अपने ग्रन्थ '**एन आउटलाइन ऑफ रिलीजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया**' में २२ वें पृष्ठ पर कहते हैं— "योगवासिष्ठ रामायण १३ वीं या १४ वीं शताब्दी में लिखी हुई उन पुस्तकों में से है जो कि किसी धार्मिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने के निमित्त लिखी गई थीं, लेकिन यह अध्यात्मरामायण की टक्कर की नहीं है।" प्रो०

राधाकृष्णन् साहब को शायद यह मत मान्य है, क्योंकि उन्होंने भी अपने भारतीय दर्शन (इंडियन फिलॉसोफी) के दूसरे भाग के ४५२ वें पृष्ठ के फुट नोट में लिखा है—"पीछे लिखे हुए बहुत से उपनिषद्—यथा महोपनिषद्—और योगवासिष्ठ तथा अध्यात्म रामायण जैसे साम्प्रदायिक ग्रंथ भी अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं।" वे विचार योगवासिष्ठ के भलीभाँति अध्ययन करने पर काफूर हो जाते हैं। योगवासिष्ठ में किसी प्रकार की भी साम्प्रदायिकता नहीं है। वह सर्वथा एक दार्शनिक ग्रंथ है, किन्तु अन्य दार्शनिक ग्रन्थों की नाईं रूखी और सूत्रमयी भाषा में नहीं लिखा गया, बल्कि इस ग्रन्थ में रसमय काव्य के रूप में उपाख्यानों और दृष्टान्तों द्वारा उच्च से उच्च और गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

यदि इसके गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों के अपनाने और मानने के लिये नहीं, तो भी अद्वैत वेदान्त के इतिहास से भलीभाँति परिचित होने के लिए, विद्वानों को इसका अध्ययन करना आवश्यक ही है। क्योंकि लेखक का पूरा विश्वास है (जैसा कि आगे चल कर सिद्ध किया जायगा) कि यह ग्रन्थ श्रीशङ्कराचार्य और श्रीगौड़पादाचार्य के पहिले का है। हमारा यह विचार शरबाट्सकी, कीथ, विण्टर्निज और शरेडर आदि यूरोप के पण्डितों ने मान लिया है। जैसा कि शरेडर साहब (कील, जर्मनी) ने हम को एक चिट्ठी में लिखा है, "यदि यह बात प्रायः मान ली गई, तो अवश्य ही इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ जायगा और प्राच्य विद्या के विद्यार्थियों का ध्यान इसकी ओर अवश्य ही जायगा।" यदि इस लेखमाला से कुछ विद्वानों की रुचि इस अद्भुत ग्रंथ का अमृत पान करने की ओर हो गई तो लेखक अपने को धन्य समझेगा।

परिच्छेद २

योगवासिष्ठ कब लिखा गया होगा

संस्कृत भाषा के अधिकतर ग्रन्थों का लेख-समय निर्धारित करना बहुत ही कठिन काम है क्योंकि लेखकों ने अपने और अपने समय के सम्बन्ध में अपने ग्रंथों में कुछ नहीं लिखा। आजकल के लेखकों की नांई वे लोग अपना नाम विख्यात करना इतना आवश्यक नहीं समझते थे जितना कि अपने ग्रंथ और तद्‌गत सिद्धान्तों का प्रचार। उनके इस उच्च कोटि के आत्मत्याग से भारत के ऐतिहासिक ज्ञान को अत्यन्त क्षति पहुंची है। इसी कारण से भारत का प्राचीन इतिहास बहुत अन्धकारमय है, और बड़े बड़े विद्वानों का समय और उनकी शक्ति भारत के प्राचीन इतिहास की खोज में व्यय होती है। कितने दुःख की बात है कि हमको महाकवि कालिदास और आचार्य शङ्कर तक के समय का भी निश्चय नहीं है। यही हाल योगवासिष्ठ का भी है। जितना मतभेद इस ग्रंथ के लेखन-समय के सम्बन्ध में है उतना शायद ही और किसी ग्रंथ के सम्बन्ध में होगा। एक ओर तो यह मत प्रचलित है कि यह ग्रन्थ रामायण के रचयिता महर्षि आदि कवि श्री वाल्मीकि जी की कृति है, और दूसरी ओर आधुनिक विद्वान् समझते हैं कि यह ग्रन्थ १३वीं अथवा १४वीं क्रिष्टीय शताब्दी में लिखा गया होगा। निर्णय सागर प्रेस से जो ग्रन्थ छपा है उसके आरम्भ में लिखा है "श्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिप्रणीतः योगवाशिष्ठः" और प्रत्येक सर्ग के अन्त में "इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु" इत्यादि लिखा रहता है। इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय में जो योगवासिष्ठ की हस्तलिखित प्रतियाँ मौजूद हैं (देखिये एगलिङ्ग की सूची भाग चौथा, पृष्ठ ११२, संख्या २४०७—२४१४) उनमें भी ऐसा ही लिखा हुआ है। लेकिन यदि फर्कुहार साहब का ग्रन्थ रिलीजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया पढ़ें तो उसमें यह लिखा हुआ मिलता है कि "योगवासिष्ठ महारामायण उन संस्कृत काव्यों में से है जो १३वीं या १४वीं शताब्दियों में लिखे गये थे" (पृष्ठ २२८)। अब हमको यहाँ पर यथासंभव यह निश्चय करना है कि यह ग्रन्थ कब लिखा गया होगा। प्रथम

हम आधुनिक विद्वानों के मतों की विवेचना करेंगे और पीछे इस मत की जो कि भारत में प्रायः प्रचलित है।

फर्कुहार साहब ने अपने मत के समर्थन में कोई भी युक्ति नहीं दी। किन्तु एक और विद्वान्—प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य—ने योगवासिष्ठ के लेखन काल पर मद्रास में हुई दूसरी ओरियेण्टल कान्फरेन्स में एक पाण्डित्यपूर्ण लेख पढ़ा था। उसमें उन्होंने युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया था—"इन सब विचारों से यही सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ १०—१२वीं शताब्दियों में लिखा गया होगा" (रिपोर्ट पृष्ठ ५५४)। हमारी समझ में योगवासिष्ठ इतने पीछे का ग्रन्थ नहीं है क्योंकि :—

(१) विद्यारण्य स्वामी के समय (१४ वीं शताब्दी के पूर्व भाग) तक योगवासिष्ठ काफी प्रसिद्ध और आदरणीय ग्रन्थ हो चुका था। उनके सर्वप्रिय ग्रन्थ पञ्चदशी में योगवासिष्ठ से बहुत सी उक्तियाँ हैं और उनका जीवन्मुक्तिविवेक ग्रन्थ तो योगवासिष्ठ के आधार पर ही लिखा हुआ है। इसमें योगवासिष्ठ से कम से कम २५२ श्लोक अपने मत-समर्थन के लिये उद्धृत किए गए हैं। प्रो० भट्टाचार्य जी को शायद यह बात मालूम नहीं थी—क्योंकि उन्होंने अपने लेख में लिखा है—"विज्ञान भिक्षु से पहिले का कोई भी दार्शनिक लेखक या भाष्यकार इस ग्रन्थ को प्रमाण ग्रन्थ नहीं समझता मालूम पड़ता है" (प्रोसिडिङ्ग की रिपोर्ट पृष्ठ ५५६)। विज्ञान भिक्षु का समय १६ वीं शताब्दी समझा जाता है, लेकिन विद्यारण्य तो १४ वीं शताब्दी ही में माने जाते हैं।

(२) नवीं शताब्दी के पूर्व भाग में ही इस बृहत् ग्रन्थ योगवासिष्ठ का कश्मीर देश के पण्डित अभिनन्द गौड़ ने एक सार—लघु योगवासिष्ठ अथवा योगवासिष्ठसार—लोकोपकारार्थ ६००० श्लोकों में कर दिया था। यह घटना प्रायः सभी विद्वान् जानते हैं। इसका उल्लेख कोनो साहब की कर्पूरमंजरी (पृष्ठ १८७), कीथ साहब की बोडलियन पुस्तकालय की पुस्तकसूची (नं० ८४०), विण्टर्निज साहब के भारतीय साहित्य के इतिहास (जर्मन—गेशिश्टे डेर

इण्डिशेन लिट्राटुर, वॉ ३, पृष्ठ ४४४) और हाल साहब की बिब्लियोग्राफी (वेदान्त, नं० १४४) में है। यह ग्रन्थ सन् १८८७ में निर्णय सागर प्रेस से छपा था और बाजार में मिलता है। मालूम पड़ता है कि प्रो० भट्टाचार्य को इस ग्रन्थ की सत्ता का ज्ञान नहीं था क्योंकि वे लिखते हैं—"लघु योगवासिष्ठ अथवा मोक्षोपायसार, जिससे किसी पूर्व ग्रन्थ का होना सिद्ध होता है, एक बंगाली लेखक का लिखा हुआ ६२ श्लोकों का ग्रन्थ है। इस लेखक का नाम अभिनन्द है। लेकिन यह अभिनन्द कश्मीर के प्रसिद्ध गौड़ अभिनन्द से अतिरिक्त कोई दूसरा ही व्यक्ति है" (प्रोसीडिंग्स्— पृष्ठ ५५३ ,फुटनोट)

डा० विण्टर्निज साहब ने अपने गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर (भारतीय साहित्य का इतिहास) के तीसरे भाग के ४४४ वें पृष्ठ पर योगवासिष्ठ का समय निर्धारण करते हुए लिखा है— "योगवासिष्ठ का एक सार संस्करण—योगवासिष्ठसार नामक— गौड़ अभिनन्द का किया हुआ है। अभिनन्द गौड़ ९वीं शताब्दी के मध्य काल में हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि योगवासिष्ठ इस समय से पुराना है लेकिन शंकराचार्य ने इसका कहीं भी ज़िक्र नहीं किया। इस लिए योगवासिष्ठ शंकराचार्य के किसी समकालीन लेखक ने लिखा होगा।" यह युक्ति हमको ठीक नहीं मालूम पड़ती। शंकराचार्य का समय आजकल के विद्वानों के अनुसार—जो कि डा० विण्टर्निज को भी मान्य है (गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर, भाग ३, पृष्ठ ४३४)— ७८८—८२० क्रिष्टीय है, और गौड़ अभिनन्द की बाबत भी यह निश्चित सा ही है कि यह ९वीं शताब्दी के मध्य में हुए हैं (देखिये कोनो की कर्पूरमञ्जरी पृष्ठ १९७)। ज़रा विचार करना चाहिए कि शंकराचार्य के और गौड़ अभिनन्द के समय में कितना थोड़ा अन्तर है—एक तो ९वीं शताब्दी के प्रथम पाद में और दूसरे उसके मध्य में हुए हैं। यदि विण्टर्निज़ साहब की बात मान लें तो यह मानना पड़ता है कि इस थोड़े से समय में एक ३२००० श्लोकों

का ग्रन्थ (यद्यपि आजकल इसमें केवल २७६८७ श्लोक ही हैं), जिसमें उत्तम काव्य के बहुत से गुण वर्तमान हैं, इस समय में बन भी गया होगा और उस हस्त लेखन के समय में उसका खूब प्रचार भी हो गया होगा और उसका इतना आदर भी हो गया होगा कि गौड़ अभिनन्द जैसा पंडित उसको अध्ययन करे, और उसको भली-भाँति अध्ययन करके उन्होंने उसका सार भी इसी थोड़े समय के भीतर तैयार करके संसार के समक्ष रख दिया होगा। हमको तो यह सब इतने थोड़े से समय में उस जमाने में होना नितान्त ही असंभव प्रतीत होता है।

प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने मद्रास ओरियण्टल कान्फ्रेन्स में पढ़े हुए लेख में लिखा है "योगवासिष्ठ में 'वेदान्तिन' और 'वेदान्तवादिन' से एक सम्प्रदाय का कथन करना इस बात का सूचक है कि योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य के पहले का नहीं है" (रिपोर्ट पृष्ठ ५५२)। हमारी समझ में केवल 'वेदान्तिन' अथवा 'वेदान्तवादिन' शब्दों के योगवासिष्ठ में होने से योगवासिष्ठ का शंकराचार्य से पीछे का होना सिद्ध नहीं होता। 'वेदान्त' शब्द शंकराचार्य के पीछे का नहीं है वरन् बहुत पुराना है। मुण्डक उपनिषद् (३।२।६) और श्वेताश्वतर उपनिषद् (४।२२) में भी 'वेदान्त' शब्द उपनिषद् के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'वेदान्तिन' शब्द अवश्य ही शंकर से पहिले भी उस सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा होगा जो उपनिषदों के सिद्धान्तों को अध्ययन करते थे और उनको ही मानते थे। गौड़पादाचार्य की—जिनका शंकर से पूर्व होना सिद्ध ही है—माण्डूक्यकारिका (११३१) के पढ़ने से भी मालूम पड़ता है कि उनसे पूर्व भी अद्वैतवाद को अथवा 'वेदान्त' के सिद्धान्त को प्रतिपादन करनेवाला कोई सम्प्रदाय था। और शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य को पढ़ने से भी यही ज्ञात होता है कि वे किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के मतानुसार ही वेद के सिद्धान्तों की व्याख्या कर रहे हैं, अपना वैयक्तिक मत का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं। कोई कारण नहीं है कि वह पूर्ववृत्त सम्प्रदाय तथा वे आचार्य जिनका मत गौड़पादाचार्य तथा शङ्कराचार्य ने प्रतिपादन किया है 'वेदान्तिन' अथवा 'वेदान्तवादिन' के नाम से

इण्डिशेन लिट्राटुर, वॉ ३, पृष्ठ ४४४) और हाल साहब की बिब्लियोग्राफी (वेदान्त, नं० १४४) में है। यह ग्रन्थ सन् १८८७ में निर्णय सागर प्रेस से छपा था और बाजार में मिलता है। मालूम पड़ता है कि प्रो० भट्टाचार्य को इस ग्रन्थ की सत्ता का ज्ञान नहीं था क्योंकि वे लिखते हैं—"लघु योगवासिष्ठ अथवा मोक्षोपायसार, जिससे किसी पूर्व ग्रन्थ का होना सिद्ध होता है, एक बंगाली लेखक का लिखा हुआ ६२ श्लोकों का ग्रन्थ है। इस लेखक का नाम अभिनन्द है। लेकिन यह अभिनन्द कश्मीर के प्रसिद्ध गौड अभिनन्द से अतिरिक्त कोई दूसरा ही व्यक्ति है" (प्रोसीडिंग्स्— पृष्ठ ५५३ ,फुटनोट)

डा० विण्टर्निज साहब ने अपने गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर (भारतीय साहित्य का इतिहास) के तीसरे भाग के ४४४ वें पृष्ठ पर योगवासिष्ठ का समय निर्धारण करते हुए लिखा है—"योगवासिष्ठ का एक सार संस्करण—योगवासिष्ठसार नामक—गौड़ अभिनन्द का किया हुआ है। अभिनन्द गौड़ ६वीं शताब्दी के मध्य काल में हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि योगवासिष्ठ इस समय से पुराना है लेकिन शंकराचार्य ने इसका कहीं भी ज़िक्र नहीं किया। इस लिए योगवासिष्ठ शंकराचार्य के किसी समकालीन लेखक ने लिखा होगा।" यह युक्ति हमको ठीक नहीं मालूम पड़ती। शंकराचार्य का समय आजकल के विद्वानों के अनुसार—जो कि डा० विण्टर्निज को भी मान्य है (गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर, भाग ३, पृष्ठ ४३४)— ७८८—८२० क्रिस्टीय है, और गौड़ अभिनन्द की बाबत भी यह निश्चित सा ही है कि यह ६वीं शताब्दी के मध्य में हुए हैं (देखिये कोनो की कर्पूरमञ्जरी पृष्ठ १६७)। ज़रा विचार करना चाहिए कि शंकराचार्य के और गौड़ अभिनन्द के समय में कितना थोड़ा अन्तर है—एक तो ६वीं शताब्दी के प्रथम पाद में और दूसरे इसके मध्य में हुए हैं। यदि विण्टर्निज़ साहब की बात मान लें तो यह मानना पड़ता है कि इस थोड़े से समय में एक ३२००० श्लोकों

श्रुति प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया है। श्रुति उन सब के लिये अद्वैत सिद्धान्तों का परम प्रमाण है। किन्तु योगवासिष्ठ में कहीं पर भी श्रुति की इतनी महानता नहीं मानी गई। सब प्रमाणों के ऊपर अनुभव ही को प्रधानता दी गई है। किसी स्थान पर भी श्रुति की उक्ति के आधार पर किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया। लेकिन शङ्कर के पश्चात् किसी भी अद्वैतवाद के समर्थक ने ऐसा नहीं किया। योगवासिष्ठ के अनुसार तो प्रत्यक्षानुभव ही एक परम प्रमाण है। यथा.—

सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु॥१॥ (२।१९।६)
मार्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रदृष्टिर्यात राघव।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नाति तच्छासनेष्वपि॥२॥ (६।१९७।१५)

४—चौथा कारण यह है कि शंकराचार्य से लेकर उनके सभी अनुयायियों तक ने अपने ग्रन्थों में दूसरे मतों का यथाशक्ति खण्डन कर के अपने मत का प्रतिपादन और अपने मत को सब से उत्तम सिद्ध करने का यत्न किया है। और जहाँ जहाँ युक्तियाँ सफल नहीं हो सकीं वहाँ वहाँ पर श्रुति को परम प्रमाण मान कर उसका पूरा सहारा लिया है। योगवासिष्ठ में ऐसा नहीं पाया जाता। इसके लेखक ने प्रायः सभी अपने समय में वर्तमान मतों को आदरणीय दृष्टि से देखा और उनका अपने मत में समावेश किया है। शंकर का अद्वैत वेदान्त तो केवल उपनिषद् के ही सिद्धान्तों का समन्वय है, लेकिन योगवासिष्ठ अपने समय के सभी दर्शनों का समन्वय है। किसी मत के ऊपर भी योगवासिष्ठकार ने आक्षेप नहीं किया।

५—पाँचवाँ कारण इस विषय में यह है कि यद्यपि योगवासिष्ठ में शङ्कराचार्य के विशेष सिद्धान्त, और उनकी विशेष संज्ञाएँ नहीं पाई जातीं, तथापि शङ्कराचार्य के छोटे छोटे पद्य ग्रन्थों में योगवासिष्ठ के बहुत सिद्धान्त, बहुत सी विशेष संज्ञाएँ ही नहीं, बहुत से श्लोक भी मिलते हैं। भाष्यों में, जो कि गद्य में लिखे गए हैं, शङ्कराचार्य जी को भाष्य-कृत ग्रंथों के ही विचारों तक परिमित रहना आवश्यक था, किन्तु अपनी स्वतन्त्र पद्य रचनाओं में वे अपने विचारों तथा शब्दों में स्वतन्त्र थे। इस लिये इन ग्रंथों में कुछ विशेषता

न पुकारे जाते हों या योगवासिष्ठकार ने उनको इन नामों से न पुकारा हो। इसलिये प्रो० भट्टाचार्य की यह युक्ति योगवासिष्ठ के शङ्कराचार्य के पीछे का ग्रन्थ होने को सिद्ध नहीं करती।

योगवासिष्ठ शंकराचार्य से पूर्व का ग्रन्थ है

१—एक विशेष कारण जिसकी वजह से हमको योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य के पश्चात् का ग्रन्थ नहीं जान पड़ता, यह है कि योगवासिष्ठ यद्यपि अद्वैत सिद्धान्त और औपनिषद् अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक है,—जिसका प्रतिपादन शङ्कराचार्य ने अपने ग्रन्थों में किया है—तथापि उसमें उन पारिभाषिक शब्दों का अभाव है जिनका श्री शंकराचार्य ने प्राय और विशेषतया प्रयोग किया है और जिनका प्रयोग शंकराचार्य के पीछे के सभी अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक लेखकों ने किया है, और जिनका प्रयोग योगवासिष्ठकार भी करता यदि उसको वे शब्द ज्ञात होते। और यदि वह शंकराचार्य के पीछे का लेखक होता तो कोई कारण ही नहीं कि श्री शंकराचार्य के शब्दों का उसको क्यों ज्ञान न होता जब कि अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन ही वह अपने इस महान् ग्रन्थ में कर रहा था। उदाहरणार्थ, शंकराचार्य के प्रयोग किए हुए ऐसे शब्दों और संज्ञाओं में से कुछ हम यहाँ देते हैं—'अध्यास', 'साधन चतुष्टय—विवेक, विराग, षट्सम्पत् (शम, दम तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) तथा मुमुक्षुत्व', 'सगुण' तथा 'निर्गुण' ब्रह्म, 'अपर ब्रह्म' 'सविशेष' और 'निर्विशेष ब्रह्म' 'उपाधि', 'क्रममुक्ति', 'प्रारब्ध' तथा 'संचित' कर्म 'बाध', 'पञ्चकोश', ईश्वर की उपाधि रूप से 'माया' और 'अविद्या', अविद्या का 'अनादित्व', 'कर्म का अनादित्व', ब्रह्म से जगत् का शङ्कराचार्य के अनुसार विकास जो कि सांख्य के अनुसार विकास से भिन्न है, महावाक्यों का एक विशेष प्रकार से अर्थ लगाना इत्यादि।

२—दूसरा कारण यह है कि योगवासिष्ठ का अद्वैतवाद इतने सुसंक्षिप्त शब्दों में और इतनी निश्चितार्थ तथा दार्शनिक भाषा में नहीं है जितना कि शंकराचार्य का तथा उनके सब अनुयायियों का है। योगवासिष्ठ में प्रायः सभी दार्शनिक संज्ञाएँ कई कई अर्थों की हैं जैसा दूसरे।

३—तीसरा कारण यह है कि शङ्कराचार्य जी और उनके अनु-यायियों ने जितने दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादन किए हैं उनमें से अनेकों।

श्रुति प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया है। श्रुति इन सब के लिये अद्वैत सिद्धान्तों का परम प्रमाण है। किन्तु योगवासिष्ठ में कहीं पर भी श्रुति की इतनी महानता नहीं मानी गई। सब प्रमाणों के ऊपर अनुभव ही को प्रधानता दी गई है। किसी स्थान पर भी श्रुति की उक्ति के आधार पर किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया। लेकिन शङ्कर के पश्चात् किसी भी अद्वैतवाद के समर्थक ने ऐसा नहीं किया। योगवासिष्ठ के अनुसार तो प्रत्यक्षानुभव ही एक परम प्रमाण है। यथा —

सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु ॥१॥ (२।१६।६)
वर्णत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वपि राघव।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्वनन्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि ॥२॥ (६।१६७।१५)

४—चौथा कारण यह है कि शङ्कराचार्य से लेकर उनके सभी अनुयायियों तक ने अपने ग्रन्थों में दूसरे मतों का यथाशक्ति खण्डन कर के अपने मत का प्रतिपादन और अपने मत को सब से उत्तम सिद्ध करने का यत्न किया है। और जहाँ जहाँ युक्तियाँ सफल नहीं हो सकीं वहाँ वहाँ पर श्रुति को परम प्रमाण मान कर उसका पूरा सहारा लिया है। योगवासिष्ठ में ऐसा नहीं पाया जाता। इसके लेखक ने प्राय सभी अपने समय में वर्तमान मतों को आदरणीय दृष्टि से देखा और उनका अपने मत में समावेश किया है। शङ्कर का अद्वैत वेदान्त तो केवल उपनिषद् के ही सिद्धान्तों का समन्वय है, लेकिन योगवासिष्ठ अपने समय के सभी दर्शनों का समन्वय है। किसी मत के ऊपर भी योगवासिष्ठकार ने आक्षेप नहीं किया।

५—पाँचवाँ कारण इस विषय में यह है कि यद्यपि योगवासिष्ठ में शङ्कराचार्य के विशेष सिद्धान्त, और उनकी विशेष सञ्ज्ञाएँ नहीं पाई जातीं, तथापि शङ्कराचार्य के छोटे छोटे पद्य ग्रन्थों में योगवासिष्ठ के बहुत सिद्धान्त, बहुत सी विशेष सञ्ज्ञाएँ ही नहीं, बहुत से श्लोक भी मिलते हैं। भाष्यों में, जो कि गद्य में लिखे गए हैं, शङ्कराचार्य जी को भाष्य-कृत ग्रंथों के ही विचारों तक परिमित रहना आवश्यक था, किन्तु अपनी स्वतन्त्र पद्य रचनाओं में वे अपने विचारों तथा शब्दों में स्वतन्त्र थे। इस लिये इन ग्रंथों में कुछ विशेषता

है। यदि शङ्कराचार्य के **विवेकचूडामणि, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी** आदि पद्य-ग्रंथों का योगवासिष्ठ के साथ साथ अध्ययन किया जाय तो अवश्य ही यह निश्चित हो जायगा कि शङ्कराचार्य को अवश्य ही योगवासिष्ठ के सिद्धान्त मालूम थे और उसके बहुत से श्लोक उनके स्मृति चित्र पर अंकित थे। इस विषय में यह कह देना भी उचित है कि यह सम्भव हो सकता है कि ये ग्रंथ शङ्कराचार्य के लिखे हुए शायद न हों। लेकिन विद्वान् लोग प्रायः इन ग्रन्थों को उन्हीं के मानते चले आ रहे हैं (देखिये अभ्यङ्कर सम्पादित **सर्वदर्शनसंग्रह** के अन्त में दी हुई सूची तथा राधाकृष्णन् की **इण्डियन फिलासोफी**, वा० २, पृष्ठ ४५०—जहाँ पर कि **विवेकचूडामणि** शङ्कराचार्य का ग्रन्थ मान लिया गया है)। दूसरी बात यह भी कह देनी उचित है कि शङ्कराचार्य जी को योगवासिष्ठ के सिद्धान्त और श्लोक स्वयं योगवासिष्ठ से न प्राप्त होकर अपने आचार्यों या सम्प्रदाय द्वारा मौखिक पथ द्वारा प्राप्त हुए हों, और योगवासिष्ठ के पढ़ने का स्वयं उनको सौभाग्य और समय न प्राप्त हुआ हो, क्योंकि उस जमाने में पुस्तकें—विशेष कर बड़े ग्रन्थ—सुलभतया नहीं मिलते थे। हम यहाँ पर पाठकों के निश्चय के लिये कुछ थोड़े से ऐसे श्लोक, वाक्य और सिद्धान्त यहाँ पर इन ग्रंथों से उद्धृत करते हैं जो योगवासिष्ठ में प्रायः उसी रूप में पाए जाते हैं:—

विवेकचूडामणि—

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यस्य चित्तं विनिश्चिन्तं स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३०॥

योगवासिष्ठ—

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥३।९।११॥

विवेकचूडामणि—

लीनधीरपि जागर्ति जाग्रद्धर्मविवर्जितः।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४२९॥

योगवासिष्ठ—

यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२॥ (३।९।४)

विवेकचूडामणि—बीजं संसृतिभूमिजस्य। (१४५)

योगवासिष्ठ—संसृतिवृततेर्बीजम्। (५।६१।८)

विवेकचूडामणि—

नह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते ॥ (१६९)

योगवासिष्ठ—

चित्तमेव सकलभूताडम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि।
सा विचित्रकेन्द्रजालवशादिदमुत्पादयति। (३।११६।१८)
मनोविजृम्भणमिदं संसार इति संमतम्। (४।४७।४८)

विवेकचूडामणि—

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम्।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषस्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥ (१७०)

योगवासिष्ठ—

मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः।
मायामात्रदृशो भ्रान्तिः शून्याः स्वप्नानुभूतय ॥ (३।६२।२४)
यथास्वप्नस्तथा जाग्रदिदं नास्त्यत्र संशयः। (३।५७।५०)
मनोविजृम्भणमिदम्। (४।४७।४८)

विवेकचूडामणि—

मुक्तिप्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत्। (२६६)

योगवासिष्ठ—वासनातानवं राम मोक्ष इत्युच्यते बुधैः। (२।२।५)

विवेकचूडामणि—सर्वत्र सर्वतः सर्वम्। (३१६)

योगवासिष्ठ—सर्वत्र सर्वथा सर्वम्। (३।१५६।४१)

विवेकचूडामणि—

वासनाप्रक्षयो मोक्ष सा जीवन्मुक्तिरिष्यते। (३१७)

योगवासिष्ठ—

प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ।
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्तितोच्यते ॥ (३।२२।८)

विवेकचूडामणि—पृथङ्नास्ति जगत्परमात्मनः । (२३५)

योगवासिष्ठ—न जगत्पृथगीश्वरात् । (३।६१।४)

विवेकचूडामणि—स्वयं विश्वमिदं सर्वम् । (३८८)

योगवासिष्ठ—आत्मैवेदं जगत्सर्वम् । (३।१००।३०)

विवेकचूडामणि—

बाह्याभ्यन्तरं शून्यं पूर्ण... ब्रह्माद्वितीयमहम् । (४६२)

योगवासिष्ठ—

अन्तःपूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे । (६।१२६।३८)
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ (६।१२६।३६)

विवेकचूडामणि—

अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ।
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ॥ (५७३)

योगवासिष्ठ—

न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा ।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं सदा ॥ (३।१००।३६)

शतश्लोकी—अतो दृष्टिसृष्टं किलेदम् । (८१)

योगवासिष्ठ—दृष्टिसृष्ट्या पुनः पुनः (३।११४।५६)

आत्मबोध—

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्र भासते ।
बुद्धावेवावभासते स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥ (१७)

योगवासिष्ठ—

सर्वत्र स्थितमाकाशमादर्शे प्रतिबिम्बति ।
यथा तथाऽऽत्मा सर्वत्र स्थितश्चेतसि दृश्यते ॥ (५।७१।३६)

स्वात्मनिरूपण—

व्यवहारदशेयं विद्याऽविद्येति वेदपरिभाषा ।
नास्त्येव तत्त्वदृष्ट्या तत्त्वं ब्रह्मैव नान्यदस्त्यस्मात् ॥ (६७)

योगवासिष्ठ—

अविद्येयमय जाव इत्यादिकलनाक्रम ।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदाम्वरै ॥ (३।८६।१)
शास्त्रसव्यवहारार्थं न राम परमार्थत । (४।४०।१)
नाऽविद्यास्ति न विद्यास्ति कृत कल्पनयाऽनया ॥ (३।६।१७)

शतश्लोकी—

य कश्चित्सौख्यहेतोस्त्रिजगति यतते नैव दु खस्य हेतो । (१५)

योगवासिष्ठ—

आनन्दार्थेव भूतानि यतन्ते यानि कानि चित् । (३।१०८।२०)

शतश्लोकी—

न चैक तदन्यद्द्वितीय कुत स्यात्,
न वा केवलत्व न चाकेवलत्वम् ।
न शून्य न चाशून्यमद्वैतकत्वात्,
कथ सर्ववेदान्तसिद्ध ब्रवीमि ॥ (१०)

योगवासिष्ठ—

एकाभावादभावोऽत्रैकत्वद्वितीयत्वयोर्द्वयो ।
एकत्व विना न द्वितीय न द्वितीय विनैकता ॥ (३।२३।४)
अशून्यापेक्षया शून्यशब्दार्थपरिकल्पना ।
अशून्यत्वासभवत शून्यताशून्यते कुत ॥ (३।१०।१४)

दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र—

विश्व दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्य निजान्तर्गतम् ।
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूत यथा निद्रया ॥१॥

योगवासिष्ठ—

रूपालोकमनस्कारैरन्धैर्गेहैरिव स्थितम् ।
सृष्टि पश्यति जीवोऽन्त सरसीमिव पर्वत ॥ (३।२२।२७)
बाह्यमभ्यन्तर भाति स्वभावोऽत्र निदर्शनम् । (३।८४।२०)

अपरोक्षानुभूति—

भावित तीव्रवेगेन यत्तु निश्चयात्मना ।
पुमान्स्तद्धि भवेच्छीघ्र ज्ञेय भ्रमरकीटवत् ॥ (१४०)

योगवासिष्ठ—

भावितं तीव्रवेगेन यदेवाशु तदेव हि। (१।२८।३७)
यथैव भावयत्यात्मा तथैव भवति स्वयम्॥ (४।११।२६)

अपरोक्षानुभूति—यथा कनके कुण्डलाभिधा। (६०)
योगवासिष्ठ—हेम्नीव कटकादित्वम्। (३।१।४२)
अपरोक्षानुभूति—यथा नीरं मरुस्थले। (६१)
योगवासिष्ठ—यथा नास्ति मरौ जलम्। (३।७।४३)
अपरोक्षानुभूति—यथैव शून्ये वेतालः। (६२)
योगवासिष्ठ—यथा नास्ति नभोयक्षः। (३।७।४४)
अपरोक्षानुभूति—गन्धर्वाणां पुरं यथा। (६२)
योगवासिष्ठ—यथा गन्धर्वपत्तनम्। (३।३।३०)
अपरोक्षानुभूति—सर्पत्वेन यथा रज्जुः। (७०)
योगवासिष्ठ—यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिः। (२।१७।१)
अपरोक्षानुभूति—कनकं कुण्डलत्वेन तरङ्गत्वेन वै जलम्। (७२)
योगवासिष्ठ—कटकत्वं यथा हेम्नि तरङ्गत्वं यथांभसि। (३।२१।६५
अपरोक्षानुभूति—यथाऽकाशे द्विचन्द्रत्वम्। (६२)

योगवासिष्ठ—

यथा द्वित्वं शशाङ्कादौ पश्यत्यक्षिमलाविलम्। (३।६६।७)

अपरोक्षानुभूति—जलत्वेन मरीचिका। (७३)
योगवासिष्ठ—मृगतृष्णाम्भिवासत्यम्। (४।१।७)

६—हमारे इस मत की पुष्टि कालीपुर आश्रम कामाख्या के स्वा
भूमानन्दजी ने अपने, एक लेख 'Priority of Yogavasishtha
Sankaracharya' में की है। उन्होंने शांकर भाष्य में से ही कु
वाक्य उद्धृत करके यह बतलाया है कि श्री शंकराचार्य को योगवासि
के अस्तित्व का ज्ञान था। उदाहरणार्थ दो वाक्य यहाँ दिये जाते हैं

(१) श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऊपर भाष्य में (८.१) शंकराचार्यजी ने लिखा है 'तथा च वासिष्ठयोगशास्त्रे'।

(२) महाभारत के सनत सुजातीय भाग के ऊपर भाष्य करते हुए (१.१४ और १.३१) श्रीशंकराचार्यजी ने लिखा है कि 'तथा चाह भगवान् वसिष्ठ:' और 'तथा चाह भगवान् वसिष्ठ:'।

योगवासिष्ठ गौडपादाचार्य और भर्तृहरि के पूर्व का ग्रन्थ है

गौडपादाचार्य की माण्डूक्यकारिका का भलीभाँति अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य से पूर्व का अद्वैत वेदान्त—जो कि माण्डूक्यकारिका में प्रतिपादित है—योगवासिष्ठ प्रतिपादित अद्वैतवाद से शङ्कराचार्य और उनके अनुयायियों के अद्वैतवाद की अपेक्षा अधिक मिलता जुलता है। योगवासिष्ठ और माण्डूक्यकारिका के विचारों और भाषा में बहुत कुछ समानता है (देखिए—बम्बई में हुई फिलासोफिकल कांग्रेस में पढ़ा हुआ हमारा लेख—"गौडपाद ऐण्ड वसिष्ठ," रिपोर्ट पृष्ठ १८८)। यहाँ पर हम दोनों में से कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं :—

माण्डूक्यकारिका—

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे॥ (२।१५)

योगवासिष्ठ—समस्तं कल्पनामात्रमिदम्। (३।२१०।११)

माण्डूक्यकारिका—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्। (३।३१)

योगवासिष्ठ—

मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम्। (४।११।२३)

माण्डूक्यकारिका—

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा॥ (४।४७)

योगवासिष्ठ—सस्पन्दे समुदेताथ निस्पन्दान्तर्गतेन च ।
इयं यस्मिञ्जगल्लक्ष्मीरलात् इव चक्रता ॥ (३।६।५८)

माण्डूक्यकारिका—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ (२।३१)

योगवासिष्ठ—

मायामात्रं दृशो भ्रान्तिः शून्या स्वप्नानुभूतयः । (३।५७।२४)
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ (६।३३।४५)

माण्डूक्यकारिका— स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
भेदानां च समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ (२।५)

योगवासिष्ठ—

जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना ।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ॥ (४।१६।११)

माण्डूक्यकारिका—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । (२।६)

योगवासिष्ठ—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । (४।४५।४५)

माण्डूक्यकारिका—

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ (३।४८)

योगवासिष्ठ—

बुद्धानामस्मदादीनां न किञ्चिन्नाम जायते । (६।१४६।१८)
जगन्नाम्ना न चोत्पन्नं न चास्ति न च दृश्यते ॥ (३।७।४०)

माण्डूक्यकारिका—

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो न निवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥ (२।१८)

योगवासिष्ठ—

यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिर्विनश्यत्यवलोकनात्।
तथैवैतत्प्रेक्षणाच्छान्तिमेति संसारदुःखिता॥ (२।१७।६)

माण्डूक्यकारिका—मनसोह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते। (३।३१)

योगवासिष्ठ—

चित्तसत्तैव जगत्सत्ता······एकाभावाद्द्वयोर्नाशः। (४।१७।१६)

माण्डूक्यकारिका—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च॥ (३।४०)

योगवासिष्ठ—

संसारस्यास्य दुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः॥ (४।३५।२)

कल्पनावाद, भ्रमवाद, अजातवाद तथा मनोनाशवाद योगवासिष्ठ-कार और गौडपाद दोनों ही को मान्य हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों ग्रन्थों—योगवासिष्ठ और माण्डूक्यकारिका—में कौनसा ग्रन्थ पूर्वकाल का है। हमारे विचार में, निम्नलिखित कारणों से, योगवासिष्ठ माण्डूक्यकारिका से पूर्व का ग्रन्थ है।

१—माण्डूक्यकारिका अद्वैत सिद्धान्त का स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है। यह माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर एक प्रकार का वार्तिक है। उसमें माण्डूक्य उपनिषद् के सिद्धान्तों का किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के मतानुसार प्रतिपादन है। वे पूर्ववृत्त अद्वैतवादी लोग माण्डूक्यकारिका में "वेदान्तेषु विचक्षणैः" (२।३१) "तत्त्वविद्" (२।३४) "नायकाः" (४।९८) और "बुद्धाः" (४।८८) आदि शब्दों से संकेत किए गए हैं। इन लोगों के जो सिद्धान्त माण्डूक्यकारिका में प्रतिपादन किए गए हैं वे सब योगवासिष्ठ में योगवासिष्ठकार के ही सिद्धान्तों के रूप में वर्तमान हैं।

२—योगवासिष्ठगत सिद्धान्त किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के रूप में नहीं हैं। वे 'वसिष्ठ' ऋषि के सिद्धान्त हैं जो कि उन्होंने

किसी उपनिषद् अथवा किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय से प्राप्त नहीं किए बल्कि स्वयं प्रज्ञा से प्राप्त किए थे, और अपने आप ही उनका अनुभव किया था (देखिए—मुमुक्षुप्रकरण का १० वाँ सर्ग)

माण्डूक्यकारिका में दूसरे मतों का तिरस्कार और खण्डन तथा अद्वैतवाद का मण्डन है। योगवासिष्ठ में किसी मत का तिरस्कार अथवा खण्डन नहीं पाया जाता। सब ही मतों का समन्वय है, किसी मत के प्रति भी घृणा का लेश नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि योगवासिष्ठ **उपनिषद्** और **भगवद्गीता** की शैली का ग्रन्थ है और **माण्डूक्यकारिका** शंकराचार्य और उनके अनुयायियों के ग्रन्थों की शैली का है जिसमें अपने सम्प्रदाय का प्रतिपादन और दूसरे सम्प्रदाय तथा धर्मों के मतों का तिरस्कार और खण्डन है। योगवासिष्ठ के इस प्रकार के भाव के हम यहाँ पर कुछ उदाहरण देते हैं:—

(१) 'विज्ञानवाद' और 'बाह्यार्थवाद' की अविरोधिता का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार कहते हैं:—

बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः।
वेदनात्मैकरूपत्वात्सर्वदा सदसंस्थितेः॥ (३।३८।४)

(२) मन का स्वरूप न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, चार्वाक, जैमिनीय, आर्हत और पाञ्चरात्र आदि दर्शनों के अनुसार बतला कर योगवासिष्ठकार कहता है—

सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम्।
विचित्रं देशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः॥ (३।९६।५१)
अज्ञानात्परमार्थस्य विपरीतावबोधतः।
केवलं विवदन्त्येते विकल्पैराररुरुक्षवः॥ (३।९६।५२)
स्वमार्गमभिशंसन्ति वादिनश्चित्रया दृशा।
विचित्रदेशकालोत्था मार्गं स्वं पथिका इव॥ (३।९६।५३)

अर्थात् जिस प्रकार बहुत से बटोही नाना देशों से चले हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगरको जाते हैं उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पदको नाना देश और कालमें प्राप्त हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। नाना प्रकारसे उस परम पदको पहुँचते हुए वे लोग,—

परमार्थ का किसीको भी ठीक ज्ञान न होनेके कारण और उसका विपरीत ज्ञान होनेसे भी—परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार मार्ग चलने वाले लोग अपने अपने मार्ग को ही सर्वोत्तम समझते हैं उसी प्रकार वे भी अपने अपने दर्शनों की प्रशंसा करते हैं।

(३) यही नहीं कि योगवासिष्ठकार का दूसरे दर्शनों के प्रति इस प्रकार की उदारता का भाव हो, बल्कि वह तो यहाँ तक कहता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही उस मार्ग पर चलना चाहिए जिस पर चलने से उसको किसी प्रकार की सफलता और सिद्धि प्राप्त होती हो। उस मार्ग को छोड़ कर दूसरे किसी मार्गपर चलना ठीक नहीं है—

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला॥ (६।१२०।२)

(४) परमतत्त्व का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार लिखता है कि वही एक तत्त्व नाना दर्शनों में नाना नामों द्वारा वर्णित है—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम्॥ (५।८७।१८)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम्।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम्॥ (५।८७।१८)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम्॥ (५।८७।१६)

प्रोफेसर शिवप्रसाद भट्टाचार्यजी का कहना है कि 'इस प्रकारके विचार और इस प्रकार का आदर्श बौद्धकाल में बङ्गाल के पाल राजाओं के समय से पहिले किसी हिन्दू लेखक के लिये सम्भव नहीं थे" (मद्रास फिलॉसोफिकल कांग्रेसकी रिपोर्ट, पृष्ठ ५५१)। पाल राज्य १० वीं शताब्दी के क़रीब हुआ है। लेकिन हर्षचरित्र का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही मध्य देश में (जो आजकल यू० पी० कहलाता है) इस प्रकार के आदर्शों और विचारों का होना संभव था। बाण ने उस समय की सभ्यता और विचारों की उदारता का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। अपनी यात्रा में राजा हर्ष दिवाकरमित्र नामक एक बौद्ध साधुके

किसी उपनिषद् अथवा किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय से प्राप्त नहीं किए बल्कि स्वयं ब्रह्मा से प्राप्त किए थे, और अपने आप ही उनका अनुभव किया था (देखिए—मुमुक्षुप्रकरण का १० वाँ सर्ग)

माण्डूक्यकारिका में दूसरे मतों का तिरस्कार और खण्डन तथा अद्वैतवाद का मण्डन है। योगवासिष्ठ में किसी मत का तिरस्कार अथवा खण्डन नहीं पाया जाता। सब ही मतों का समन्वय है, किसी मत के प्रति भी घृणा का लेश नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि योगवासिष्ठ उपनिषद् और भगवद्गीता की शैली का ग्रन्थ है और माण्डूक्यकारिका शंकराचार्य और उनके अनुयायियों के ग्रन्थों की शैली का है जिसमें अपने सम्प्रदाय का प्रतिपादन और दूसरे सम्प्रदाय तथा धर्मों के मतों का तिरस्कार और खण्डन है। योगवासिष्ठ के इस प्रकार के भाव के हम यहाँ पर कुछ उदाहरण देते हैं —

(१) 'विज्ञानवाद' और 'बाह्यार्थवाद' की अविरोधिता का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार कहते हैं —

बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव न.।
वेदनात्मैकरूपत्वात्सर्वदा सदसस्थिते ॥ (३।३८।४)

(२) मन का स्वरूप न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, चार्वाक, जैमिनीय, आर्हत और पाञ्चरात्र आदि दर्शनों के अनुसार बतला कर योगवासिष्ठकार कहता है—

सर्वैरेव च गन्तव्यं तै पद पारमार्थिकम्।
विचित्र देशकालोत्थैं पुरमेकमिवाध्वगैं ॥ (३।९६।५१)
अज्ञानात्परमार्थस्य विपरीतावबोधत।
केवल विवदन्त्येते विकल्पैरारुरुत्तव ॥ (३।९६।५२)
स्वमार्गमभिशंसन्ति वादिनश्चित्रया दृशा।
विचित्रदेशकालोत्था मार्गे स्व पथिका इव ॥ (३।९६।५३)

अर्थात् जिस प्रकार बहुत से बटोही नाना देशों से चले हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगरको जाते हैं उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पदको नाना देश और कालमें ज्ञात हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। नाना प्रकारसे उस परम पदको पहुँचते हुए वे लोग,—

परमार्थ का किसीको भी ठीक ज्ञान न होनेके कारण और उसका विपरीत ज्ञान होनेसे भी--परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार मार्ग चलने वाले लोग अपने अपने मार्ग को ही सर्वोत्तम समझते हैं उसी प्रकार वे भी अपने अपने दर्शनों की प्रशंसा करते हैं।

(३) यही नहीं कि योगवासिष्ठकार का दूसरे दर्शनों के प्रति इस प्रकार की उदारता का भाव हो, बल्कि वह तो यहाँ तक कहता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही उस मार्ग पर चलना चाहिए जिस पर चलने से उसको किसी प्रकार की सफलता और सिद्धि प्राप्त होती हो। उस मार्ग को छोड़ कर दूसरे किसी मार्गपर चलना ठीक नहीं है—

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला॥ (३।१३०।२)

(४) परमतत्त्व का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार लिखता है कि वही एक तत्त्व नाना दर्शनों में नाना नामों द्वारा वर्णित है—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम्॥ (५।८७।१८)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम्।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम्॥ (५।८७।१८)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम्॥ (५।८७।१९)

प्रोफेसर शिवप्रसाद भट्टाचार्यजी का कहना है कि 'इस प्रकारके विचार और इस प्रकार का आदर्श बौद्धकाल में बङ्गाल के पाल राजाओं के समय से पहिले किसी हिन्दू लेखक के लिये सम्भव नहीं थे" (मद्रास फिलॉसोफिकल कांग्रेसकी रिपोर्ट, पृष्ठ ५५१)। पाल राज्य १० वीं शताब्दी के करीब हुआ है। लेकिन हर्षचरित्र का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही मध्य देश में (जो आजकल यू० पी० कहलाता है) इस प्रकार के आदर्शों और विचारों का होना संभव था। बाण ने उस समय की सभ्यता और *विचारों की उदारता का* अच्छा दिग्दर्शन कराया है। अपनी यात्रा में राजा हर्ष दिवाकरमित्र नामक एक बौद्ध साधुके

मिलते जुलते हैं। जैसा कि आगे के वाक्यों से व्यक्त हो जायगा—

वैराग्यशतक—

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालनातनुभृतामित्याकलय्यद्रुतम्
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ॥

योगवासिष्ठ—

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलाम्बाम्बुवद्भङ्गुरम्
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला ।
लोला यौवनलालनाजलरयः कायः क्षणापायवान्
पुत्र त्रासमुपेत्य संसृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम् ॥ (६।१२६।३३)

वैराग्यशतक

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा बुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।
व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनामुना
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥ (७८)

योगवासिष्ठ—

पुनर्दिनैककलना शर्वरीसंस्थितिः पुनः ।
पुनस्तान्येव कर्माणि लज्जायै न च तुष्टये ॥ (५।२२।३१)
तमेव भुक्तविरसं व्यापारौघं पुनः पुनः ।
दिवसे दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते ॥ (५।२२।३३)

वाक्यपदीय—विवर्त्ततेऽर्थभावेन । (१।१।१)

योगवासिष्ठ—विवर्त्तेऽर्थभावेन । (३।६३।४६)

वाक्यपदीय—

द्यौः क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ (३।७।४१)

योगवासिष्ठ—

द्यौः क्षमावायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ (५।५६।३५)

वाक्यपदीय—नैकत्वमस्ति नानात्वं विनैकत्वेन नेतरत् ।
परमार्थे तयोरेव भेदोऽत्यन्तं न विद्यते ॥ (३।६।२८)

योगवासिष्ठ—एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ।
एकाभावादभावोऽत्रेस्त्वद्वित्वयोर्द्वयो. ॥ (६।३३।४)

वाक्यपदीय—
न चैकत्वं नापि नानात्वं न सत्त्वं न च नास्तिता ।
आत्मतत्त्वेषु भावानामसंसृष्टेषु तिष्ठते ॥ (३।१।२१)

योगवासिष्ठ—
न च नास्तीति तद्वक्तु युक्तं ते तद्वपुर्यदा ।
नचैवास्तीति तद्वक्तु युक्तं शान्तमलं यदा ॥ (६।४३।६)

वाक्यपदीय—सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः। (३।१।२२)

योगवासिष्ठ—समस्तशक्तिरचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा। (३।६७।२)

वाक्यपदीय—यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं वा विकल्पितम्। (३।३।७०)

योगवासिष्ठ—द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं परम्। (३।१२१।५३)

वाक्यपदीय—न तदस्ति न तन्नास्ति। (४।२।१२)

योगवासिष्ठ—न तदस्ति न तन्नास्ति। (६।३२।३६)

वाक्यपदीय—
अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् ।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा ॥ (१।१।१३१)

योगवासिष्ठ—इयं यस्मिञ्जगज्जर्मालात इव चक्रता। (३।६।५८)

अब प्रश्न यह है कि इन दोनों—भर्तृहरिकृत ग्रन्थ और योगवासिष्ठ-में कौनसा पूर्व कालका है ? हमारा विचार तो यह है कि योगवासिष्ठ ही पूर्वकालीन ग्रन्थ है क्योंकि इसमें भर्तृहरि के 'शब्द ब्रह्म' सिद्धान्त का नाम तक भी नहीं आता और शब्द ब्रह्म' **वाक्यपदीय** का विशेषतया प्रतिपादित विषय है। यदि योगवासिष्ठ **वाक्यपदीय** से पीछे लिखा गया होता तो अवश्य ही इसमें भी 'शब्द ब्रह्म' सिद्धान्त

मिलते जुलते हैं। जैसा कि आगे के वाक्यों से व्यक्त हो जायगा—

वैराग्यशतक—

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालनातनुभृतामित्याकलय्यद्रुतम्
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धि विदध्वं बुधाः ॥

योगवासिष्ठ—

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद्भङ्गुरम्
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला ।
लोला यौवनलालनाजलरय. कायः क्षणापायवान्
पुनश्चासमुपेत्य सस्मृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम् ॥ (६।१२६।३३)

वैराग्यशतक

रात्रिः सैव पुन स एव दिवसो मत्वा बुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।
व्यापारै. पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनामुना
संसारेण कदर्थिता कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥ (७८)

योगवासिष्ठ—

पुनर्दिनैकक्लना शर्वरीसस्थिति पुन ।
पुनस्तान्येव कर्माणि लज्जायै न च तुष्टये ॥ (५।२२।३१)
तमेव भुक्तविरस व्यापारौघ पुन पुन ।
दिवसे दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते ॥ (५।२२।३३)

वाक्यपदीय—विवर्ततेऽर्थभावेन । (१।१।१)

योगवासिष्ठ—विवर्तेऽर्थभावेन । (६।६३।४६)

वाक्यपदीय—

द्यौः क्षमा वायुरादित्य. सागराः सरितो दिश ।
अन्त करणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिता ॥ (३।७।४१)

योगवासिष्ठ—

द्यौः क्षमावायुराकाश पर्वता. सरितो दिश ।
अन्त करणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिता ॥ (५।५६।३५)

नानात्वं विनैकत्वेन नेतरत् ।
परमार्थे तयोरेव भेदोऽत्यन्तं न विद्यते ॥ (३।६।२८)

योगवासिष्ठ—एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ।
एकाभावादभावोऽत्रैस्त्यद्वित्वयोर्द्वयो ॥ (६।३३।५)

वाक्यपदीय—
न चैकत्वं नापि नानात्वं न सत्त्वं न च नास्तिता ।
आत्मतत्त्वेषु भावानामसम्पृष्टेषु विद्यते ॥ (३।१।२१)

योगवासिष्ठ—
न च नास्तीति तद्वक्तुं युक्तं ते तद्वपुर्यदा ।
नचैवास्तीति तद्वस्तु युक्तं शान्तमलं तदा ॥ (६।५३।६)

वाक्यपदीय—सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः । (३।१।२२)

योगवासिष्ठ—समस्तशक्तिरचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा । (३।६७।२)

वाक्यपदीय—यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं वा विकल्पितम् । (३।३।७०)

योगवासिष्ठ—द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं परम् । (३।१२१।५३)

वाक्यपदीय—न तदस्ति न तन्नास्ति । (४।२।१२)

योगवासिष्ठ—न तदस्ति न तन्नास्ति । (६।३१।३६)

वाक्यपदीय—
अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् ।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा ॥ (१।१।१३१)

योगवासिष्ठ—इदं यस्मिन्जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता । (३।६।५८)

अब प्रश्न यह है कि इन दोनों—भर्तृहरिकृत ग्रन्थ और योगवासिष्ठ—में कौनसा पूर्व कालका है ? हमारा विचार तो यह है कि योगवासिष्ठ ही पूर्वकालीन ग्रन्थ है क्योंकि इसमें भर्तृहरि के 'शब्द ब्रह्म' सिद्धान्त का नाम तक भी नहीं आता और 'शब्द ब्रह्म' **वाक्यपदीय** का विशेषतया प्रतिपादित विषय है। यदि योगवासिष्ठ **वाक्यपदीय** से पीछे लिखा गया होता तो अवश्य ही इसमें भी 'शब्द ब्रह्म' सिद्धान्त

मिलते जुलते हैं। जैसा कि आगे के वाक्यों से व्यक्त हो जायगा—

वैराग्यशतक—

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालनातनुभृतामित्याकलय्य द्रुतम्
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धि विदध्व बुधा ॥

योगवासिष्ठ—

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलाम्भाम्बुवद्भङ्गुरम्
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला ।
लोला यौवनलालनाजलरयः काय. क्षणापायवान्
पुत्रास्समुपेत्य संसृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम् ॥ (६।१२६।३३)

वैराग्यशतक

रात्रि सैव पुन स एव दिवसो मत्वा बुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।
व्यापारै. पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवविधेनामुना
संसारेण कदर्थिता कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥ (७८)

योगवासिष्ठ—

पुनर्दिनैकक्लना शर्वरीसंस्थिति. पुन ।
पुनस्तान्येव कर्माणि लज्जायै न च तुष्टये ॥ (५।२२।३१)
तमेव भुक्तविरस व्यापारौघ पुन पुन ।
दिवसे दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते ॥ (५।२२।३३)

वाक्यपदीय—विवर्त्ततेऽर्थभावेन । (१।१।१)

योगवासिष्ठ—विवर्त्तेऽर्थभावेन । (६।६३।४६)

वाक्यपदीय—

द्यौ क्षमा वायुरादित्य सागरा सरितो दिश ।
अन्त करणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिता ॥ (३।७।४१)

योगवासिष्ठ—

द्यौ. क्षमावायुराकाशं पर्वता सरितो दिश ।
अन्त करणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिता ॥ (५।५६।३५)

श्री रामचन्द्रजी को सिखाए थे और जो कि उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से सीखे थे। यह हमारा विश्वास निम्नलिखित दो कारणों पर निर्भर है :—

१—महाभारत के अनुशासन पर्व के छठे अध्याय में युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से प्रश्न किया है: "आप महाप्राज्ञ और सब शास्त्रों के पण्डित हैं। मुझे बतलाइये कि भाग्य (दैव) प्रबल है अथवा पुरुषार्थ ?" इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा "धर्मराज ! इस विषय में ब्रह्मा और वसिष्ठ का संवाद सुनो" इतना कह कर उन्होंने इस विषय में वे बातें कहीं जो कि ब्रह्मा ने वसिष्ठ को सुनाई थीं। ये बातें प्राय वे ही हैं जो कि वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को कही थीं (देखिए योगवासिष्ठ—मुमुक्षु प्रकरण सर्ग ४६)। रामचन्द्रजी को यह शिक्षा देकर वसिष्ठजी ने उनसे यह भी कहा है कि यह ज्ञान उनको ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था :—

इदमुक्तं पुरा कल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना। (२।१०।६)

इस प्रकार की शिक्षा देने से पहिले भी वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीसे यह कहा था कि जो ज्ञान वे उनको देंगे वह ज्ञान उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से प्राप्त किया था —

पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना।
सर्गादौ लोकशान्त्यर्थं तदिदं कथयाम्यहम्॥ (२।१।१)

२—वर्त्तमान योगवासिष्ठ के सर्वप्रथम सर्ग—जो कि प्रस्तावनारूप है—पढ़ने से भी यह निश्चित होता है कि वाल्मीकिकृत कोई एक ऐसा ग्रंथ मौजूद था जिसमें कि उन्होंने रामचन्द्रजीको वसिष्ठजी द्वारा किए हुए उपदेश का वर्णन किया था। इस ग्रन्थ को बनाकर वाल्मीकिजी ने अपने शिष्य भरद्वाजको सुनाया था। और फिर बहुत काल पीछे उसी ग्रन्थको उन्होंने राजा अरिष्टनेमी को सुनाया था —

शृणु राजन्प्रवक्ष्यामि रामायणमखण्डितम्।
श्रुत्वावधार्य यत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि॥ (१।१।५२)
वसिष्ठरामसंवादं मोक्षोपायकथां शुभाम्।
ज्ञातस्वभावो राजेन्द्र वदामि श्रूयतां बुध॥ (१।१।५३)
एवांस्तु प्रथमं कृत्वा पुराहमरिमर्दन।
शिष्यायास्यामि विनीताय भरद्वाजाय धीमते॥ (१।२।४५)

इन दो प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अवश्य ही वाल्मीकिकृत कोई

का वर्णन होता। इसलिये हमारा खयाल है कि योगवासिष्ठ भर्तृहरि के समय में वर्त्तमान था। भर्तृहरि के मरण का साल ६५० क्रिष्टीय समझा जाता है (देखिए—मैक्समूलर के सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी, पृष्ठ ६०, और कीथ का क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर पृ० ११८)। इससे यह निश्चय है कि क्रिष्टीय सप्तम शताब्दी के आरम्भ से पूर्व योगवासिष्ठ अवश्य ही वर्त्तमान रहा होगा।

पाठक यह जान कर प्रसन्न होंगे कि लेखक का यह मत कि योगवासिष्ठ शङ्कराचार्य से और सम्भवतः भर्तृहरि से प्राचीन ग्रन्थ है। प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य और डा० विण्टर्निज ने भी जिनके मतों का यहाँ पर खण्डन किया गया है मान लिया है। और शरबात्स्की, श्रडेर और कीथ प्रभृति यूरोप के बड़े बड़े पण्डितों ने हमारी इस खोज की भूरि भूरि प्रशंसा की है। प्रो० कीथ ने एक चिट्ठी में लिखा है "आपने योगवासिष्ठ का शंकर से प्राचीनतर होना तो साफ तौर से सिद्ध कर दिया है और आपकी इसके भर्तृहरि से पूर्व काल का होने की युक्तियाँ भी ठीक ही जान पड़ती हैं।" प्रो० श्रडेर ने अपने एक पत्र में लिखा है "मैं अपनी ओर से आपको इस बात पर बधाई देना चाहता हूँ कि आपने योगवासिष्ठ का शंकर से और सम्भवतः गौडपाद से पूर्व का ग्रन्थ होना साबित कर दिया है।"

वर्त्तमान योगवासिष्ठ वाल्मीकिकृत नहीं है

यहाँ तक यह सिद्ध हो चुका है कि योगवासिष्ठ के निर्माणकाल के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों में जो विचार प्रचलित हैं वे ठीक नहीं हैं। योगवासिष्ठ अवश्य ही वाक्यपदीय और वैराग्यशतक के रचयिता भर्तृहरि से पहिले का है। अब हमको यह विचार करना है कि यह ग्रन्थ कितना प्राचीन है, और यह कहा तक सत्य है कि यह रामायण के रचयिता श्री वाल्मीकि जी की कृति है जैसा कि प्रायः समझा जाता है।

इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है कि कोई प्राचीन ग्रन्थ ऐसा था जिसमें वसिष्ठजी के वे सिद्धान्त वर्णित थे जो उन्होंने

श्री रामचन्द्रजी को सिखाए थे और जो कि उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से सीखे थे। यह हमारा विश्वास निम्नलिखित दो कारणों पर निर्भर है :—

१—महाभारत के अनुशासन पर्व के छठे अध्याय में युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से प्रश्न किया है: "आप महाप्राज्ञ और सब शास्त्रों के पण्डित हैं। मुझे बतलाइये कि भाग्य (दैव) प्रबल है अथवा पुरुषार्थ ?" इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा "धर्मराज ! इस विषय में ब्रह्मा और वसिष्ठ का संवाद सुनो" इतना कह कर उन्होंने इस विषय में वे बातें कहीं जो कि ब्रह्मा ने वसिष्ठ को सुनाई थीं। ये बातें प्रायः वे ही हैं जो कि वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को कही थीं (देखिए योगवासिष्ठ—मुमुक्षु प्रकरण सर्ग ४६)। रामचन्द्रजी को यह शिक्षा देकर वसिष्ठजी ने उनसे यह भी कहा है कि यह ज्ञान उनको ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था :—

इदमुक्तं पुरा कल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना। (२.१०।६)

इस प्रकार की शिक्षा देने से पहिले भी वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीसे यह कहा था कि जो ज्ञान वे उनको देंगे वह ज्ञान उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से प्राप्त किया था:—

पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना।
सर्गादौ लोकशान्त्यर्थं तदिदं कथयाम्यहम्॥ (२।३।१)

२—वर्तमान योगवासिष्ठ के सर्वप्रथम सर्ग—जो कि प्रस्तावना-रूप है—पढ़ने से भी यह निश्चित होता है कि वाल्मीकिकृत कोई एक ऐसा ग्रंथ मौजूद था जिसमें कि उन्होंने रामचन्द्रजीको वसिष्ठजी द्वारा किए हुए उपदेश का वर्णन किया था। इस ग्रन्थ को बनाकर वाल्मीकिजी ने अपने शिष्य भरद्वाजको सुनाया था। और फिर बहुत काल पीछे उसी ग्रन्थको उन्होंने राजा अरिष्टनेमी को सुनाया था:—

शृणु राजन्प्रवक्ष्यामि रामायणमखण्डितम्।
श्रुत्वावधार्य यत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि॥ (१।१।५२)
वसिष्ठरामसंवादं मोक्षोपायकथां शुभाम्।
ज्ञातस्वभावो राजेन्द्र वदामि श्रूयतां बुध॥ (१।१।५३)
एतांस्तु प्रथमं कृत्वा पुराहमरिमर्दन।
शिष्यायाध्यापयामि विनीताय भरद्वाजाय धीमते॥ (१।२।४५)

इन दो प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अवश्य ही वाल्मीकि-कृत कोई

ऐसा प्राचीन ग्रन्थ मौजूद रहा होगा जिसमें कि वसिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन हो। लेकिन जिस रूप मे योगवासिष्ठ ग्रन्थ हमारे सामने उपस्थित है उस रूप मे यह न बहुत प्राचीन ही है और न वाल्मीकि ऋषि की कृति है। हमारा विचार यह है कि यह कोई प्राचीन ग्रन्थ, पुन:पुन आवृत्त होने से, और उसमें समय समयपर दूसरे लेखकों द्वारा वृद्धि होने से, इस बृहत् रूप को प्राप्त हो गया है। योगवासिष्ठ के प्रस्तावनारूप प्रथम सर्ग का अध्ययन करने से ही यह विचार निश्चित हो जाता है कि इस ग्रन्थ की बहुत सी आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। (१) वाल्मीकिजी ने इसको रचकर भरद्वाज को सुनाया था और फिर उन्होने ही इसको कुछ दिन पीछे अरिष्टनेमी राजा को सुनाया (१।२।४, १।२।५३)। (२) जो उपदेश वाल्मीकिजी ने अरिष्टनेमी को दिया था उसका वर्णन इन्द्र के एक दूत ने सुरुचि नाम की एक अप्सरा के सामने किया था (१।१।२३)। (३) यह बात अग्निवेश्य ने अपने पुत्र कारुण को सुनाई थी (१।१।१८) और (४) अग्निवेश्य और कारुण का यह प्राचीन इतिहास अगस्ति ने सुतीक्ष्ण ब्राह्मण को सुनाया था (१।१।६)। बार बार केवल अपनी स्मृति से पुरानी कथाओं और उपदेशों को दूसरों के प्रति सुनाने में अवश्य ही बहुत सी नई बातें कहने में आ जाया करती हैं और बहुत सी पुरानी बातें विस्मृत हो जाया करती हैं। वर्त्तमान योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध के ५२-५८ सर्गों मे महाभारत के संग्राम और श्रीकृष्ण के गीता-उपदेश का भी वर्णन मिलता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं जान पडता कि वर्तमान रूप में भी योगवासिष्ठ पूर्णतया और यथार्थ ही श्री वाल्मीकिजी की कृति है।

दूसरा बहुत महत्त्वपूर्ण कारण जिसकी वजह से हम वर्त्तमान योगवासिष्ठ को बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं कह सकते यह है कि इसमें बौद्धमत के 'विज्ञानवाद', 'मध्यमवाद' और 'शून्यवाद' का केवल वर्णन ही नहीं आता बल्कि इन मतों का वर्त्तमान योगवासिष्ठ मे बहुत सुन्दरता के साथ सम्मिश्रण और समन्वय है। (देखिए योगवासिष्ठ ५।८७।१८-२० और ३।५।६ इत्यादि)। योगवासिष्ठ का अध्ययन करने-पर यह पूरे तौर से निश्चित हो जाता है कि इसमें अश्वघोष, नागार्जुन, असङ्ग और वसुबन्धु आदि बौद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों के साथ

औपनिषद् अद्वैतवाद तथा आत्मवाद का बहुत ही उत्तम समन्वय है। नागार्जुन का समय आधुनिक विद्वानों के अनुसार द्वितीय ख्रिष्टीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध है, और विज्ञानवाद के प्रवर्तक वसुबन्धुका समय तदनु के अनुसार ४२० से ५०० ईस्वी सन् मानना चाहिए। (देखिए दी जर्नल ऑफ रुआयल एशियाटिक सोसोइटी, १९०५ पृष्ठ १ आदि)। इसलिये वर्तमान योगवासिष्ठ का पाँचवीं ईस्वी शताब्दी के पीछे का ही मानना पड़ता है।

इस विचार को पुष्टि इस कारण से भी होती है कि योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध के ११६ वें सर्ग के १–६ श्लोकों में महाकवि कालिदास के "मेघदूत" का बहुत ही संक्षेप में वर्णन है। केवल मेघदूत का विचार ही नहीं बल्कि कवि कालिदास के शब्द भी इस संक्षिप्त वर्णन में मिलते हैं। पाठकों के निश्चय के लिये इन श्लोकों को हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं :—

कथयत्येष पथिक. पश्य मन्दरगुल्मके।
प्रियायाश्चिरलग्नाया वृत्ता विरहसत्कथाम् ॥ (६।११६।१)
एतत्र शृणु किं वृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तमम्।
दातु त्वज्ञिकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम् ॥ (६।११६।२)

अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे
यो मां तयेह मम याति गृहं स क स्यात्।
नैरात्म्यसौ जगति य परदु:खशान्त्यै
प्रीत्या निरन्तरतर सरलं यतेत ॥ (६।११६।३)

आ एष शिखरे मेघ स्मराश्व इव सयुत।
विद्युल्लता विलासिन्या वलितो रसिक स्थित ॥ (६।११६।४)

भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचित व्यालम्ब्य कण्ठे गुणं
नीचैर्गर्ज मुहूर्तकं कुरु दया सा नाप्यपूर्णेक्षणा।
बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा
वा गत्वा सुगते गलज्जलवैराश्वासयात्मानिले ॥ (६।११६।५)

चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वालिङ्गिता सती।
न जाने क्वाधुनैवेत पयोद दयिता गता ॥ (६।११६।६)

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार कालिदास पाँचवीं शताब्दी के

पूर्वार्द्ध में हुए हैं। वर्त्तमान योगवासिष्ठ इस समय के पीछे का ही होना चाहिये।

ऐसा मालूम पड़ता है कि वर्त्तमान योगवासिष्ठ गुप्त साम्राज्य के पतन होने के समय लिखा गया था। इसके तीसरे और छठे प्रकरणों में बहुत सी लड़ाइयों और आक्रमणों का वर्णन है। उत्पत्ति प्रकरण में विदूरथ और सिन्धु का सग्राम और निर्वाण प्रकरण में वर्णित विपश्चित् के राज्य पर चारों ओर से आक्रमणों का उल्लेख इस बात के द्योतक हैं कि वह समय महा अशान्ति का था। हूणों और पारसीकों का भी जिक्र इन स्थानों पर आता है। युद्ध का वर्णन बहुत ही विकट भाषा में है। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि योगवासिष्ठ महाकवि कालीदास के पीछे और भर्तृहरि के पूर्व समय का ग्रन्थ है। यदि योगवासिष्ठ की भाषा और उसमें वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं का गहरा अध्ययन किया जाए तो हमें पूर्ण आशा है कि इस विचार की अधिकतर पुष्टि हो जायगी। विद्वानों से आशा है कि वे इस ओर ध्यान देकर इस विषय पर अपना मत प्रकट करेंगे।

परिच्छेद ३

योगवासिष्ठ-साहित्य

इस बीसवीं शताब्दी में भी, जब कि पुस्तकों की प्रचुरता से पढ़नेवालों का नाक में दम है, योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में पुस्तकों का सर्वथा अभाव है। आजकल भारतीय साहित्य और दर्शन-सम्बन्धी पुस्तकें दिन पर दिन अधिकता से छपती जा रही हैं किन्तु अभी तक योगवासिष्ठ-सम्बन्धी कोई भी उत्तम पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई। यहाँ तक कि संस्कृत भाषा के योगवासिष्ठ की भी एक आवृत्ति को छोड़कर कोई दूसरी नहीं दिखाई पड़ती। लेखक ने इस ग्रन्थ के विषय में सन् १९२५ ई० से लिखना आरम्भ किया है। उससे पहिले इस महान् ग्रन्थ पर प्रायः कुछ भी नहीं लिखा गया था। केवल बाबू (अब डाक्टर!) भगवान्-दासजी ने शायद 'थ्यूसोफिस्ट' नामक अंग्रेजी पत्रिका में योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों के ऊपर कोई लेख लिखा था। तब से लेकर अब तक भी योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में बहुत ही कम लेख छपे हैं। यहाँ पर हम उस समस्त साहित्य का उल्लेख करना चाहते हैं जो कि योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में पाठकों को उपलब्ध हो सकता है।

(१) योगवासिष्ठ के काल-निर्णय के सम्बन्ध में—

१—डा० जे० एन० फर्कुहार के एन आउटलाइन ऑफ दी रिलीजस लिट्रेचर ऑफ इण्डिया में २२८ पृष्ठ पर कुछ पंक्तियाँ जिनमें योगवासिष्ठ को १३-१४ शताब्दियों का रचा हुआ माना है।

२—डा० विण्टर्निज के गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर भा० ३, पृष्ठ ४४३-४४४ पर एक पैराग्राफ, जिसमें योगवासिष्ठ को श्री शङ्कराचार्य के किसी समकालीन व्यक्ति का लिखा हुआ माना है।

३—प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य द्वारा मद्रास ओरियण्टल कान्फरेन्स में पढ़ा हुआ और उसकी प्रोसीडिंग्स में छपा हुआ एक लेख—"योगवासिष्ठ रामायण, इसका समय और लिखने का स्थान"—जिसमें

कि उन्होंने योगवासिष्ठ को १०-१२ शताब्दियों में किसी बङ्गाली लेखक के द्वारा लिखा हुआ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

४—डा० बी० एल० आत्रेय के **योगवासिष्ठ एण्ड इट्स फिलासोफी** में दूसरा लेक्चर जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि योगवासिष्ठ कवि कालिदास से पीछे और भर्तृहरि से पहिले का लिखा हुआ ग्रन्थ है।

५—डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के **ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी,** वॉ० २, में "फिलासोफी ऑफ दी योगवासिष्ठ" नामक अध्याय में उन्होंने अपना यह मत प्रकट किया है कि योगवासिष्ठ या तो आठवीं या सातवीं शताब्दी में लिखा गया होगा। यही मत उन्होंने अपने ग्रन्थ "**इण्डियन आइडीयलिज़्म**" में भी पृष्ठ १५४ पर प्रकट किया है। वहाँ पर उन्होंने लिखा है "योगवासिष्ठ का काल निर्णय नहीं हो सकता, लेकिन मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि यह ग्रन्थ सातवीं या आठवीं शताब्दि के पीछे का नहीं हो सकता।"

६—डा० बी० एल० आत्रेय का बड़ोदा ओरियण्टल कान्फरेन्स में भेजा हुआ लेख "दी प्रोबेबिल डेट ऑफ कम्पोजीशन ऑफ योगवासिष्ठ", जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि योगवासिष्ठ छठी शताब्दी में लिखा गया होगा।

७—श्री प्रह्लाद सी० दीवानजी का बड़ोदा ओरियण्टल कान्फरेन्स में पढ़ा हुआ लेख, "दी डेट एण्ड प्लेस ऑफ ओरिजिन ऑफ दी योगवासिष्ठ", जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि योगवासिष्ठ दसवीं शताब्दी के मध्य में कश्मीर देश में लिखा गया होगा।

(२) योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में—

१—लाला बैजनाथ द्वारा कराए हुए योगवासिष्ठ के हिन्दी भाषानुवाद में उनकी लिखी हुई भूमिका, जिसमें उन्होंने योगवासिष्ठ के छहों प्रकरणों के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन मात्र कराया है।

२—श्री नारायण स्वामी अइयर के **इंगलिश ट्रांसलेशन ऑफ**

लघु योगवासिष्ठ की भूमिका, जिसमें कि लघु योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

३—डा० बी० एल० आत्रेयका प्रथम (कलकत्ता) इण्डियन फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेस (१६२५) में पढा हुआ लेख—"फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ योगवासिष्ठ" जिसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। यह लेख इस कांग्रेस की प्रोसीडिंग्स में छपा है।

४—डा० बी० एल० आत्रेय का बनारस इण्डियन फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेस (१६२६) में पढा हुआ लेख—'डिवाइन इमेजिनिज़्म ऑफ़ वसिष्ठ"—जिसमें योगवासिष्ठ के कल्पनावाद का वर्णन है। यह लेख बनारस फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेस की प्रोसीडिंग्स में छपा है।

५—डा० बी० एल० आत्रेय का बम्बई इण्डियन फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेस में पढा हुआ लेख--"गौडपाद ऐण्ड वसिष्ठ"—जिसमें गौड़पादाचार्य और योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों की तुलना की है। यह लेख भी इस कांग्रेस की प्रोसीडिंग्स में छपा है।

६—डा० बी० एल० आत्रेय का **योगवासिष्ठ एण्ड इट्स फ़िलासोफ़ी** जो कि काशी तत्व सभा में योगवासिष्ठ पर दिए हुए १० व्याख्यानों में से पाच का समह है। यह पुस्तक 'इण्डियन बुक शॉप', बनारस से मिल सकती है। इस पुस्तक में योगवासिष्ठ के सिद्धातों का सरल अंग्रेज़ी भाषा में प्रतिपादन किया गया है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इस लेखक की अंगरेज़ी में बड़ी पुस्तक (६०० पृष्ठ की) **फिलासोफी ऑफ योगवासिष्ठ** छप रही है।

७—डाक्टर बी० एल० आत्रेय की हिन्दी पुस्तक **श्री वासिष्ठ दर्शनसार** जिसमें योगवासिष्ठ का १५० श्लोकों में, जिनके नीचे उनका सरल हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है, सार सिद्धान्त रखने का प्रयत्न किया गया है। इसकी भूमिका में योगवासिष्ठ सम्बन्धी और बातों का भी वर्णन है। यह पुस्तक भी इंडियन बुक शॉप, बनारस, से मिल सकती है।

८—डा० बी० एल० आत्रेय का लिखा हुआ कल्याण शिवाङ्क में "शिव-शक्ति-वाद" नामक लेख जिसमें योगवासिष्ठ के "शिवशक्ति-वाद" का, और मतों की दार्शनिक समालोचना के साथ, समर्थन किया गया है।

९—डा० बी० एल० आत्रेय का कल्याण के भगवद्गीताङ्क में लिखा हुआ लेख—"योगवासिष्ठ मे भगवद्गीता" – जिसमें योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण में अर्जुन को दिए जाने वाले श्रीकृष्ण के गीता-उपदेश का वर्णन किया गया है।

१०—डा० बी० एल० आत्रेय का यू० पी० गवर्नमेण्ट की प्रिंस ऑफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़ १९३३ में छपा हुआ एक लेख "योगवासिष्ठ एण्ड सम ऑफ दी माइनर उपनिषद्स", जिसमें सि यह सिद्ध किया गया है कि बहुत से उत्तर कालीन उपनिषद् योगवासिष्ठ के ही सार श्लोकों से बने हैं।

११- डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त के ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासोफी के दूसरे भाग में योगवासिष्ठ के दर्शन के ऊपर एक २ पृष्ठों का अध्याय।

१२—डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त के इंडयन आयडीयलिज़ में योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्त का ५ पृष्ठों मे वर्णन।

१३—डा० भगवान् दास की पुस्तक मिस्टिक एक्सपीरियन्से जिसमें योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण में से चार कहानियों का अङ्गरेजी में वर्णन है। इसमें कहीं कहीं उपयोगी फुट नोट भी हैं।

१४—डा० बी० एल० आत्रेय का संस्कृत ग्रन्थ वासिष्ठदर्शन जिसको यू० पी० गवर्नमेंट अपने प्रिंस ऑफ वेल्स संस्कृत टेक्स्ट सीरीज में छपवा रही है। यह ग्रन्थ इस समय प्रेस मे है। इसमें योगवासिष्ठ के समग्र दार्शनिक सिद्धान्त योगवासिष्ठ ही के करीब २५० श्लोकों में संग्रह करके क्रमबद्ध रीतिसे रक्खे गए हैं। यह ग्रन्थ योगवासिष्ठ के सारे दार्शनिक सिद्धान्तों को योगवासिष्ठ के प्रेमियों के सामने रखने का प्रथम प्रयत्न है। इसके आदि मे एक अङ्गरेजी की भूमि

भी है जिसमें योगवासिष्ठ के समग्र आख्यान संक्षेप रूप से दिए हैं।

१५—डा॰ बी॰ ला॰ आत्रेय का हिन्दी ग्रन्थ **योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त** जो आजकल प्रेस में है। इस ग्रन्थ में योगवासिष्ठ सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर विवेचना की गई है।

१६—कन्हैयालाल मास्टर की **कल्याण** में लिखी हुई 'योगवासिष्ठ-सार' नामक लेखमाला। इसमें हिन्दी भाषा में योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का भली भाँति वर्णन है।

१७—डा॰ बी॰ एल॰ आत्रेय लिखित **योगवासिष्ठ एण्ड मोडर्न थॉट** जिसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों की अर्वाचीन वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ तुलना की है और यह दिखलाया है कि अर्वाचीन विचार योगवासिष्ठ के विचारों से बहुत मिलते हैं।

३—योगवासिष्ठ के अनुवाद—

हिन्दी—

१—योगवासिष्ठ—भाषा टीका सहित—श्रीठाकुर प्रसाद ...चार्यकृत भाषा अनुवाद सहित सस्कृत योगवासिष्ठ। यह ग्रन्थ दो ...गों में सवत् १९६० में, ज्ञानसागर प्रेस बम्बई से छपा था। ...ह अनुवाद स्व॰ लाला बैजनाथजी की प्रेरणा से हुआ था और दोनों ...गों के आदि में लाला बैजनाथजी की लिखी हुई उत्तम भूमिका है ...जिसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया गया है। हमको ...ह अनुवाद अच्छा नहीं मालूम पड़ता क्योंकि इसमें मनमाना अर्थ ...या गया है। जो बातें योगवासिष्ठ के श्लोकों में नहीं हैं वे भी अर्थ ... लिख दी हैं। योगवासिष्ठ में अनुवादक ने शाङ्कर वेदान्त के बहुत ... सिद्धान्त, जो कि योगवासिष्ठकार को ज्ञात नहीं थे, घुसेड़ दिए हैं। ...नुवादक को ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। इस पुस्तक का कागज ...वना जल्द टूटने वाला है कि हम किसी को भी इस पुस्तक के खरी...ने की राय नहीं देंगे। इसके दाम २२) रु॰ हैं।

२—योगवासिष्ठ भाषा—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से छपा ...आ। दाम ८) रु॰। यह ग्रन्थ बम्बई के वेङ्कटेश्वर प्रेस से भी

छपा है। इसमें योगवासिष्ठ के संस्कृत श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा में ही योगवासिष्ठ की कथा है। भाषा कुछ पुराने ढङ्ग की है। इस ग्रन्थ की बाबत यह कहा जाता है कि क़रीब १७५ वर्ष के हुए कि पटियाला रियासत के महाराजा-साहेब सिंह की दो बहिनें विधवा हो गई थीं। उन्होंने साधु रामप्रसाद निरञ्जनी से योगवासिष्ठ सुनाने की प्रार्थना की। उन्होंने सारा ग्रन्थ उन देवियों को पञ्जाबी भाषा में उल्था करके सुना दिया। जो कुछ वे सुनाते थे दो गुप्त लेखक नोट करते जाते थे। जब ग्रन्थ पूरा सुनाया जा चुका तो यह उल्था छपवा दिया गया। पीछे इस पञ्जाबी उल्था को खड़ी बोली हिन्दी में शुद्ध कराकर लोकोपकार के लिये नवलकिशोर प्रेस ने १६१४ ई० में छाप दिया। इस ग्रन्थ का पञ्जाब और पश्चिमीय यू० पी० में बहुत प्रचार है। ग्रन्थ है भी बहुत ही उत्तम। इसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्त उसी ग्रन्थ की भाषा में वर्णित हैं। कुछ सर्ग, जिनका दार्शनिक सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं है, छोड़ दिये गए हैं। दोष इस ग्रन्थ में यही है कि इसमें जिन श्लोकों का अनुवाद किया गया है उनका अङ्क नहीं दिया गया। इसके सर्गों के अङ्क भी योगवासिष्ठ के सर्गों के अङ्कों से नहीं मिलते क्योंकि कहीं २ पर वे सर्ग छोड़ दिए गए हैं जिनमें युद्ध, वन इत्यादिक वर्णन था।

३—योगवासिष्ठ भाषा—वैराग्य और मुमुक्षु प्रकरण—वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। इसमें योगवासिष्ठ के केवल प्रथम दो प्रकरणों का ही भाषा में अनुवाद है। इस पुस्तक का बहुत प्रचार है। अनुवाद भी अच्छा है। इसमें भी श्लोकों के अङ्क नहीं दिये गये।

उर्दू—

१—योगवासिष्ठसार—लघु योगवासिष्ठ का मुंशी सूर्यनारायण मेहर का किया हुआ उर्दू अनुवाद, १६१३ में दिल्ली से प्रकाशित। यह लघु योगवासिष्ठ का उर्दू भाषा में बहुत अच्छा अनुवाद है।

२—योगवासिष्ठायन—म० शिवव्रतलाल द्वारा किया हुआ लाहोर से छपा हुआ लघु योगवासिष्ठ का उर्दू अनुवाद। यह अनुवाद भी बहुत ही उत्तम है। इसमें विशेषता यह है कि किताब के किनारे पर हरएक पैरेग्राफ़ के सिद्धान्त दिए हैं।

अंग्रेज़ी—

१—इङ्लिश ट्रांस्लेशन ऑफ़ योगवासिष्ठ महारामायण—बिहारीलाल मित्र का ४ भागों में किया हुआ अनुवाद सन् १८६१ में कलकत्ते से छपा हुआ। इस अनुवाद के करने में अनुवादक ने यत्न तो बहुत ही श्रेष्ठ किया है किन्तु खेद है कि अनुवाद किसी भी काम का नहीं है। इसको पढ़कर कोई भी योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों को नहीं समझ सकता। यही कारण है कि अंग्रेजी भाषामात्र जानने वालों को अभी तक योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का भली-भाँति ज्ञान नहीं हो सका।

२—ए ट्रांस्लेशन ऑफ़ (लघु) योगवासिष्ठ—मद्रास से १८६६ में छपा हुआ के० नारायण स्वामी अइयर का किया हुआ लघु योगवासिष्ठ का अंग्रेजी अनुवाद। यह अनुवाद ऊपरवाले अनुवाद से कुछ अच्छा है, किन्तु इसमें भी बहुत जगहों पर ठीक अनुवाद नहीं है और इसमें श्लोकों का नम्बर नहीं दिया है।

४—मूल ग्रन्थ—संस्कृत योगवासिष्ठ

१—आनन्द बोधेन्द्र कृत टीका सहित सम्पूर्ण योगवासिष्ठ—संवत् १६३६ वि० में गणपत कृष्णजी प्रेस बम्बई से प्रकाशित। यह खुले पत्रों के रूप में छपा है। टाइप भी उत्तम नहीं है और एक श्लोक दूसरे से अलहदा नहीं है। सब श्लोक लगातार एक ही साथ मिले हुए छपे हैं जिससे पढ़नेवालों को कष्ट होता है।

२—श्रीमद्वाल्मीकि महर्षि प्रणीत **योगवासिष्ठ**—श्रीवासिष्ठ महारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्या सहित। वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर द्वारा संपादित निर्णयसागर प्रेस बम्बई से सन् १६१८ में दो भागों में प्रकाशित। इसमें आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती भिक्षु की व्याख्या है। यह व्याख्या उत्तर कालीन शांकर वेदान्त के सिद्धान्तों के अनुसार है। यह ग्रन्थ अच्छा छपा है। पाठकों को इसी का पाठ करना उचित है। यह केवल संस्कृत में ही है। इसका दाम १४) है।

संस्कृत लघु योगवासिष्ठ—

१. लघु योगवासिष्ठ—गौड अभिनन्दकृत निर्णयसागर प्रेस बम्बई से संवत् १८४४ में खुले पत्रों में छपा हुआ। इसमें पहले तीन प्रकरणों (वैराग्य, मुमुक्षु और उत्पत्ति) पर आत्मसुखकृत वासिष्ठ चन्द्रिका नामक व्याख्या है और आख़री तीन (स्थिति, उपशम और निर्वाण) पर मिम्मदीदेव की संसारतारिणी नाम की व्याख्या है। इस लघुयोगवासिष्ठ में योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध का सार नहीं है। यह ग्रन्थ भी उत्तम है।

योगवासिष्ठ की कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ—

यहाँ तक हमने पाठकों को योगवासिष्ठ सम्बन्धी प्रकाशित पुस्तकों और लेखों का परिचय दे दिया। अब हम उनको योगवासिष्ठ और उसके संक्षेपों की कुछ हस्तलिखित प्रतियों से भी परिचित कराना चाहते हैं। वे ये हैं:—

१—योगवासिष्ठ (सम्पूर्ण)

(१) इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लण्डन में। देखिये ज्यूलियस ऐग्लिङ्ग रचित "दी कैटालोग ऑफ़ संस्कृत मैन्युस्क्रप्ट्स इन दी लाइब्रेरी ऑफ़ इण्डिया ऑफिस" लण्डन, पार्ट (भाग) ४, पृष्ठ ७७२ आदि पर वर्णित:—

योगवासिष्ठ—आनन्द बोधेन्द्र सरस्वती कृत वासिष्ठ-तात्पर्य-प्रकाश नामक व्याख्या समेत। (नं० २४०७—२४१४) इस प्रति में

१. वैराग्य प्रकरण में (नं० ३०२ अ) ३३ सर्ग हैं और लगभग ११३० श्लोक हैं।

२. मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण में २० सर्ग और उनमें ६००० के लगभग श्लोक हैं।

३. उत्पत्ति प्रकरण में १२२ सर्ग और उनमें लगभग ६००० श्लोक हैं।

४. स्थिति प्रकरण में ६२ सर्ग हैं जिनमें २४०० के लगभग श्लोक हैं।

५. उपशाम प्रकरण में ६३ सर्ग हैं जिनमें ४२७० के लगभग श्लोक हैं।

६. निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध मे १२६ सर्ग हैं जिनमे ५४६० के लगभग श्लोक हैं।

७. निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध में २१६ सर्ग हैं जिनमें ८८०० के लगभग श्लोक हैं।

यहाँ पर यह उचित जान पड़ता है कि हम पाठकों को यह भी बतला दें कि निर्णय सागर बम्बई से प्रकाशित ग्रन्थ में सर्गों और श्लोकों की संख्या क्या है। उसमें

१. वैराग्य प्रकरण मे ३३ सर्ग, ११७६ श्लोक हैं।
२. मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण में २० सर्ग, ८७७ श्लोक हैं।
३. उत्पत्ति प्रकरण में १२२ सर्ग, ५२६५ श्लोक हैं।
४. स्थिति प्रकरण मे ६२ सर्ग, ४१५ श्लोक हैं।
५. उपशाम प्रकरण में ६३ सर्ग ४१६७ श्लोक हैं।
६ निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध में १२८ सर्ग, ५१११ श्लोक हैं।
७. निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध में २१६ सर्ग, ८७१६ श्लोक हैं।

इस पुस्तकालय में योगवासिष्ठ की और भी प्रतियाँ हैं (२४१५। २६४१; २४१६—२४२०; २४२१ और २४२२) किन्तु उनमें कोई भी सम्पूर्ण नहीं है।

(२) ऑक्सफोर्ड के बोडलियन पुस्तकालय में—(देखिये आफ-फेरेसट का "कैटालोगी कोडिकम मैन्युस्क्रप्टोरम् बिब्लियोथी की बोडलियने" नं० ८४०)। यहाँ पर जो प्रति वर्त्तमान है उसमें निर्वाण प्रकरण का उत्तरार्द्ध नहीं है। इस प्रति के प्रारम्भ के शब्द "दिवि भूमौ" हैं।

(३) महाराजा बीकानेर के पुस्तकालय में (देखिये राजेन्द्रलाल मित्र का बनाया हुआ सूचीपत्र, नं० १२१६)। इस प्रति में भी निर्वाण प्रकरण का उत्तरार्द्ध नहीं है इसके आदि के शब्द हैं—"दिक्कालाद्य-नवच्छिन्न"।

(४) अल्वर नरेश के पुस्तकालय में (देखिए पिटर्सन का बनाया हुआ सूचीपत्र, नं० ५४८,५४६)। इन प्रतियों पर योगवासिष्ठ के नाम,

'योगवासिष्ठ', 'आर्परामायण', 'ज्ञानवासिष्ठ', 'महारामायण', 'वासिष्ठ रामायण' और 'वासिष्ठ' हैं। इनके साथ आनंद बोधेन्द्र सरस्वती की व्याख्या भी है।

(५) सरस्वती-भवन पुस्तकालय, क्वीन्स कालिज, बनारस में (देखिए—यहाँ की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची, नं० १८८८—१८१०, १८२० और ५०३७)। यहाँ पर ६ प्रतियाँ हैं किन्तु केवल एक ही, नं० १८२०, सम्पूर्ण है।

(६) मद्रास के गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रप्ट पुस्तकालय में। (देखिए रंगाचार्य की बनाई हुई पुस्तक सूची वॉ० ४, भाग १, नम्बर १६१०—१६१४ :—

नं० १६१०, वासिष्ठ रामायणम् सव्याख्यानम्—देवनागरी लिपि। केवल वैराग्य प्रकरण, मुमुक्षु प्रकरण और स्थिति प्रकरण।

नं० १६११, वासिष्ठरामायणम्—सव्याख्यानम्। ग्रन्थ लिपि। उपशम प्रकरण, असम्पूर्ण।

नं० १६१२, वासिष्ठ रामायणम्—सव्याख्यानम्। देवनागरी लिपि। इसमें निर्वाण प्रकरण के १२२ सर्ग तक ही हैं।

नं० १६१३ वासिष्ठ रामायणम्—सव्याख्यानम्। इसमें निर्वाण प्रकरण के ३६ वें अध्याय से लेकर अन्त तक है। देवनागरी लिपि।

(७) एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के ओरियण्टल पुस्तकालय में (देखिये हरप्रसादशास्त्रीकृत सूचीपत्र, कलकत्ता १६०४, पृष्ठ १५८) :—

१—आनन्द बोधेन्द्र सरस्वती कृत व्याख्या सहित वासिष्ठ रामायण, बङ्ग लिपि में।

२—अद्वयारण्यकृत योगवासिष्ठ टीका (वासिष्ठ पददीपिका) देवनागरी लिपि।

२—संक्षिप्त योगवासिष्ठ

१—लघु योगवासिष्ठ, योगवासिष्ठसार, मोक्षोपायसार—

(१) इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी (एग्लिङ्गकृत सूची भाग ४, नं० २४२४।२१२० और २४२५।१३४२)

(२) बोडलियन लाइब्रेरी (ऑक्सफोर्ड) कीथ कृत सूची-अपेंडिक्स। न० ८४० (एम० एस० फरेजर ६)। इसके लेखक के सम्बन्ध में कीथ साहब कहते हैं 'अभिनन्द के पितामह का पिता कारमीर के मुक्तापीड राजा के समय (करीब ७२४ ईस्वी) में था। लेखक कारमीर में पैदा हुआ था किन्तु वह गौड देश में विक्रमशील के पुत्र युवराज हरवर्ष के यहाँ रहता था। देखिए पिटर्सन का सुभाषितावली पृष्ठ ६७।"

(३) अलवर पुस्तकालय में पिटर्सन की सूची न० ५५०।

(४) सरस्वती सदन पुस्तकालय, क्वीन्सकालिज, बनारस में। हाल के सूचीपत्र 'कन्ट्रीब्यूशन टुवर्ड्स एन इंडेक्स टू दी बिब्लियोग्राफी आफ इण्डियन फ़िलासोफ़िकल सिस्टम्स" में वेदान्त, न० १२५ में वर्णित योगवासिष्ठ का संक्षेप "अभिनन्द आफ कारमीर' द्वारा कृत। इसके साथ एक संसारतारिणी नाम की व्याख्या भी है।

(५) मद्रास की गवर्नमेंट ऑरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी में—(रङ्गाचार्य की सूची न० १८९७-१८६५। इसका नाम लघु योगवासिष्ठ और ज्ञानव सिष्ठ है। "यह ४४ सर्गों में बड़े वासिष्ठ-रामायण का सार है। सार करनेवाले का नाम तेलगू लिपि में 'कारमीर पण्डित' दिया है"।

२—योगवासिष्ठसार

यह बिना रचयिता के नाम का है। किसी किसी प्रति में बनारस के महीधर की व्याख्या है—

(१) इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में—एगिलङ्ग कृत सूची, भाग ४, न० २४२६।२४३२ फ। इसमें २२० श्लोक और १० प्रकरण हैं। इसके आदि की पंक्ति है "दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये"। न० २८८१।१४०१ २४०८।१३६४ सा, और २४२६।२४३६ महीधर कृत योगवासिष्ठ सार वृत्ति अथवा योगवासिष्ठ सार विवरण की प्रतियाँ हैं। यह वृत्ति बनारस के महीधर ने संवत् १६५४ (१५६७ ईस्वी) में लिखी थी।

(२) बोडलियन लाइब्रेरी (आक्सफोर्ड) में कीथकी सूची में न० १३०२ और आउफरेख्ट की सूची में न० ५६३। इसके साथ भी

'योगवासिष्ठ', 'आर्षरामायण', 'ज्ञानवासिष्ठ', 'महारामायण', 'वासिष्ठ रामायण' और 'वासिष्ठ' हैं। इनके साथ आनंद बोधेन्द्र सरस्वती की व्याख्या भी है।

(५) सरस्वती-भवन पुस्तकालय, क्वीन्स कालिज, बनारस में (देखिए—यहाँ की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची, नं० १८८८—१८१०, १८२० और ५०३७)। यहाँ पर ६ प्रतियाँ हैं किन्तु केवल एक ही, नं० १८२०, सम्पूर्ण है।

(६) मद्रास के गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट पुस्तकालय में। (देखिए रंगाचार्य की बनाई हुई पुस्तक सूची वॉ० ४, भाग १, नम्बर १६१०—१६१४ , :—

नं० १६१०, वासिष्ठ रामायणम् सव्याख्यानम्—देवनागरी लिपि। केवल वैराग्य प्रकरण, मुमुक्षु प्रकरण और स्थिति प्रकरण।

नं० १६११, वासिष्ठरामायणम्—सव्याख्यानम्। ग्रन्थ लिपि। उपशम प्रकरण, असम्पूर्ण।

नं० १६१२, वासिष्ठ रामायणम्—सव्याख्यानम्। देवनागरी लिपि। इसमें निर्वाण प्रकरण के १२२ सर्ग तक ही हैं।

नं० १६१३ वासिष्ठ रामायणम्—सव्याख्यानम्। इसमें निर्वाण प्रकरण के ३६ वें अध्याय से लेकर अन्त तक है। देवनागरी लिपि।

(७) एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के ओरियण्टल पुस्तकालय में (देखिये कुञ्जविहारीकृत सूचीपत्र, कलकत्ता १६०४, पृष्ठ १५६) :—

१—आनन्द बोधेन्द्र सरस्वती कृत व्याख्या सहित वासिष्ठ रामायण, बङ्ग लिपि में।

२—अद्वयारण्यकृत योगवासिष्ठ टीका (वासिष्ठ पददीपिका) देवनागरी लिपि।

२—संक्षिप्त योगवासिष्ठ

१—लघु योगवासिष्ठ, योगवासिष्ठसार, मोक्षोपायसार—

(१) इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी (एग्लिङ्गकृत सूची भाग ४, नं० २४२४।२१२० और २४२५।१३४२)

(२) बोडलियन लाइब्रेरी (ऑक्सफोर्ड) कीथ कृत सूची-अपेण्डिक्स। नं० ८४० (एम० एस० फ्रेज़र ६)। इसके लेखक के सम्बन्ध में कीथ साहब कहते हैं 'अभिनन्द के पितामह का पिता काश्मीर के मुक्तापीड राजा के समय (करीब ७२४ ईस्वी) में था। लेखक काश्मीर में पैदा हुआ था किन्तु वह गौड देश में विक्रमशील के पुत्र युवराज हरवर्ष के यहाँ रहता था। देखिए पिटर्सन की सुभाषितावली पृष्ठ ६७।"

(३) अलवर पुस्तकालय में पिटर्सन की सूची नं० ५५०।

(४) सरस्वती सदन पुस्तकालय, क्वीन्सकालिज, बनारस में। हाल के सूचीपत्र "कन्ट्रीब्यूशन टुवर्ड्स् एन इंडेक्स टू दी बिब्लियोग्राफी आफ इण्डियन फिलासोफिकल सिस्टम्स" में वेदान्त, नं० १४५ में वर्णित योगवासिष्ठ का संक्षेप "अभिनन्द आफ काश्मीर" द्वारा कृत। इसके साथ एक संसारतारिणी नाम की व्याख्या भी है।

(५) मद्रास की गवर्नमेंट ऑरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी में—(रङ्गाचार्य की सूची नं० १८९२-१८६५)। इसका नाम लघु योगवासिष्ठ और ज्ञानवासिष्ठ है। "यह ४४ सर्गों में बड़े वासिष्ठ-रामायण का सार है। सार करनेवाले का नाम तैलङ्गी लिपि में 'काश्मीर पण्डित' दिया है"।

२—योगवासिष्ठसार

यह बिना रचयिता के नाम का है। किसी किसी प्रति में बनारस के महीधर की व्याख्या है—

(१) इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में—एग्लिङ्ग कृत सूची, भाग ४, नं० २४२६।२५३२ फ। इसमें २२० श्लोक और १० प्रकरण हैं। इसके आदि की पंक्ति है "दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये"। नं० २४२८।१५२१, २४२८।१३६४ सी, और २४२६।२४३६ महीधर कृत योगवासिष्ठ सार वृत्ति अथवा योगवासिष्ठ सार विवरण की प्रतियाँ हैं। यह वृत्ति बनारस के महीधर ने संवत् १६५४ (१५६७ ईस्वी) में लिखी थी।

(२) बोडलियन लाइब्रेरी (आक्सफोर्ड) में कीथकी सूची में नं० १३०२ और आउफरेख्ट की सूची में नं० ५६३। इसके साथ भी

परिच्छेद ४

योगवासिष्ठ और कुछ उत्तर कालीन उपनिषद्

ऊपर कहा जा चुका है कि उत्तर कालीन उपनिषदों में से कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जिनके सारे अथवा कुछ श्लोक योगवासिष्ठ में वर्त्तमान हैं। लेखक का मत यह है कि ये श्लोक योगवासिष्ठ ही के हैं और उनको योगवासिष्ठ में से बहुत से स्थलों से चुन कर एकत्र करके उस संग्रह का नाम संग्रहकर्त्ता ने उपनिषद् रख दिया। उस समय में पुस्तकों का, विशेषकर बड़ी पुस्तकों का, मिलना कठिन था क्योंकि सब ग्रंथ हाथ से ही लिखे जाते थे। इस कारण से योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थ को पढ़कर लोगों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार इसमें से सार श्लोकों का संग्रह कर लिया, पीछे उसी संग्रह को उन्होंने उपनिषद् नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया, और दूसरे लोगों ने इस उपनिषद् को अपने पाठ के लिये नक़ल कर लिया होगा। इस प्रकार से ये उपनिषद् विख्यात हुए। आजतक इस घटनाका पता किसी विद्वान् को इस कारण से नहीं चला कि योगवासिष्ठ और उपनिषदों का तुलनात्मक गहन अध्ययन किसी ने नहीं किया। शायद ही कोई विद्वान् ऐसा होगा जो किसी श्लोक को पढ़कर यह कह सके कि यह श्लोक योगवासिष्ठ में अमुक स्थलपर है। इस महान् ग्रन्थ के श्लोकों की सूची भी अभीतक नहीं तैयार हुई। लेखक को ही यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि उसने कई सालों के कठिन परिश्रम से बहुत से उपनिषदों के श्लोकों को योगवासिष्ठ में पाया है। यह गहरी और महत्त्वपूर्ण खोज पाठकों के समक्ष रखने का यहाँ प्रयत्न किया जाता है। स्थानाभाव से केवल उन श्लोकों का जो कि उपनिषदों और योगवासिष्ठ में पाए जाते हैं यहाँ पर अङ्कमात्र दिया जाता है। जो पाठक अधिक उत्सुक हों वे इन नम्बरों के श्लोकों को दोनों ग्रन्थों में से देख कर मुक़ाबला कर लें।

केवल इस घटना से ही कि कोई श्लोक योगवासिष्ठ और किसी उपनिषद् में पाया जाता है यह सिद्ध नहीं होता कि यह मूलतः योगवासिष्ठ का है और उपनिषद्-कर्ता ने उसे योगवासिष्ठ से ही

लिया है। कुछ और कारण ऐसे हैं जिनकी वजह से हमारा यह विश्वास है कि ये श्लोक जो कि उपनिषदों और योगवासिष्ठ दोनों में पाये जाते हैं योगवासिष्ठ के हैं और उनको संग्रह करके ही ये उपनिषद् बनाये हैं। उनमें से कुछ ये हैं :—

१—बहुत से श्लोक ऐसे हैं जो कि कई उपनिषदों में नाना स्थलों और नाना सम्बन्धों में मिलते हैं। इससे यह मालूम पड़ता है कि संग्रहकर्ताओंने ये श्लोक किसी एक ही जगह से लेकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार सज्जित किए हैं। ये सब श्लोक ऐसे हैं जो कि योगवासिष्ठ में मिलते हैं। यथा :—

योगवासिष्ठ	महोपनिषद्	अन्नपूर्णोपनिषद्	
६।७४।३३, ३६	२।४७	२।२९,२६	
६।११।८१	२।४८	४।६१	
६।५९।३२	४।१०	१।४७	
३।७।१०	४।८२	४।३१	
	मुक्तिकोपनिषद्		
६।१०।४	२।३२	४।१४	
६।१०।१६	२।३४ (आधा)	४।१६	
६।१०।१८	२।३४ (आधा)	४।१७	
६।१०।२०	२।३५ (आधा)	४।१८	
६।१०।२३	२।३५ (आधा)	४।१९	
६।११।३७	२।२९	४।४८	
६।११।१४	२,४८	६।४१	
६।११।२९	२।५७	४।४६	
६।१२।१७	२।१०	४।८३	
६।१२।२२	२।१३	४।८४	
६।१२।३४	२।४३	४।९०	
	महोपनिषद्	वराहोपनिषद्	
३।११८।९–१९	६।२४–३४	४।१–१०	
	मैत्रेय्युपनिषद्		
३।११७।१	६।६	२।३०	योगकुण्डल्युपनिषद्
३। ९ ।४७	२।६९	१।१०	३।२४

यो॰ वा॰	मुक्तिकोपनिषद्	म॰ उ॰	पैङ्गलोपनिषद्	यो॰ कु॰ उ॰
३। ९ ।१४	२।७६	२।६३	३।११	३।११
४। २३ ।१८	२।४२	५।७५		
			याज्ञवल्क्योपनिषद्	
११२११ १,२,५,६, ११,१२,१८, २०,२३,२५		३।३९-४८	५:१५	
४।२४।८-१०	२।४०,४१	५।७७-७८		
४।३५।१८	२।३९	५।९७-९८		
	वराहोपनिषद्			अक्ष्युपनिषद्
६।१२६।६०-६७	४।१२-१७			३१-३१

२—बहुत से उपनिषदों में इन श्लोकों के आदि में "अत्र श्लोका भवन्ति" ऐसा लिखा है जिससे साफ जाहिर है कि उपनिषत्कारों ने ये श्लोक किसी दूसरे स्थल से लिए हैं।

३—योगवासिष्ठ के उस स्थलपर जहाँ से कि उपनिषदों के श्लोक चुने गए हैं बहुत से और श्लोक उसी प्रकार के वर्तमान हैं जैसे कि वे जोकि चुने गए हैं।

४—उपनिषदों में योगवासिष्ठ से चुने हुए श्लोकों की तरतीब प्रायः ठीक नहीं है। बहुत से स्थलों पर तो योगवासिष्ठ की ही तरतीब ज्यों की त्यों रक्खी गई है, किन्तु बीच के बहुत से श्लोक छोड़ देने पर वह तरतीब जोकि योगवासिष्ठ में ठीक जान पड़ती है उपनिषदों में खराब हो गई।

५—इन उपनिषदों में से कोई भी उपनिषद् पुराना नहीं है। सब ही योगवासिष्ठ से पीछे के बने हुए हैं क्योंकि इनमें से कोई भी श्री शंकराचार्य से पूर्व का नहीं है और हमने ऊपर यह सिद्ध कर दिया है कि योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य से पूर्व का ग्रन्थ है।

६—इन श्लोकों में से जो कि योगवासिष्ठ और इन उपनिषदों में मिलते हैं कोई भी श्लोक ऐसा नहीं है जो लघुयोगवासिष्ठ में न मिलता हो। लेकिन योगवासिष्ठ के बहुत से उत्तम श्लोक लघु योगवासिष्ठ में नहीं पाए जाते और वे ही श्लोक इन उपनिषदों में भी

नहीं मिलते। इससे यह मालूम पड़ता है कि इन उपनिषदों के बनाने वालों को केवल लघुयोगवासिष्ठ ही देखने में आया होगा।

महा-उपनिषद् और योगवासिष्ठ

महा-उपनिषद्—जैसा कि इसके नाम से ही जाहिर है—एक बहुत बड़ा उपनिषद् है। इसमें ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय एक छोटा सा भूमिका रूप गद्य में लिखा हुआ अध्याय है। बाकी ५ अध्याय पद्य में हैं और उनमें ५३५ श्लोक हैं। इन ५३५ श्लोकों में से हमको ४१० श्लोक योगवासिष्ठ में मिल गए। जैसा कि निम्नलिखित अंकों से जाहिर है:—

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
२ ।	१,२	२ ।	१	। ८,१०
२ ।	३,५	३ ।	८०	। ४,६,७
२ ।	९,१०,११	३ ।	८१	। २,३,३
२ ।	१३-३५	२ ।	१	। ११-३४
२ ।	३८-४०	१ ।	३	। ६,८,१५
२ ।	४१,४२	२ ।	२	। ५,६
२ ।	४३,४६	५ ।	१६	। १८,२१,११,११
२ ।	४७	६ ।	७४	। ३३,३६
		६ ।	७५	। ५२
२ ।	४८	५ ।	११	। ८१
२ ।	४९-६०	३ ।	११९	। १२,१३,१५,१७,१८,२८
				२९,३३,१६,३४,३०,३१
२ ।	६१-६९	३ ।	९	। १७-१९,४७-५०,७५
२ ।	७०-७७	२ ।	१	। ३५-३७,४१-४६
३ ।	१७	१ ।	१२	। ४,५,७-९,१६,२१,२६
३ ।	८	१ ।	१३	। १
३ ।	९-१५	१ ।	१४	। १,२,५,१०-१३
३ ।	१६,१७	१ ।	१५	। ३,९

महा-उपनिपद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	१८-२१	१ ।	१६ ।	२,१५,२४,२५
३ ।	२२-२५	१ ।	१७ ।	८,२९,३१,३२
३ ।	२६-३२	१ ।	१८ ।	४,१८,१९,३१,३८,६१
३ ।	३३	१ ।	१९ ।	३०
३ ।	३४	१ ।	२० ।	३
३ ।	३५,३६	१ ।	२२ ।	६,८
३ ।	३७,३८	१ ।	२३ ।	३,१९
३ ।	३९-४८	१ ।	२१ ।	१,२,५,६,११,१२,१८, २०,२३,३५
३ ।	४९-५१	१ ।	२६ ।	२३,२५,२९
३ ।	५२-५४	१ ।	२८ ।	२१,३१,३५
३ ।	५५	१ ।	२९ ।	१३
३ ।	५६	लघुयोगवासिष्ठ १ ।		१६५
३ ।	५७	कई श्लोकों का संक्षेप (देखिये) १ ।	३१ ।	२४
४ ।	२-४	२ ।	११ ।	५९,६१,६७
४ ।	५	२ ।	१३ ।	११
४ ।	६	५ ।	५० ।	१७
४ ।	७,८	५ ।	५६ ।	१५,२१
४ ।	९	५ ।	५७ ।	२२
४ ।	१०	५ ।	५९ ।	३२
४ ।	११,१२	५ ।	६२ ।	६,८
४ ।	१३-१५	४ ।	५६ ।	३०,३१,३३
४ ।	१७-२३	४ ।	६१ ।	१-३, ५-७, १२-१४, १६
४ ।	२४	५ ।	१३ ।	२०
४ ।	२६	२ ।	१२ ।	१६,१७
४ ।	२८-३४	३ ।	१३ ।	३८-४०, ५८,६१,६२,७२, ७५,८१
४ ।	३५-३७	२ ।	१५ ।	३, ६, १२

महा-उपनिषद् अध्याय, श्लोक	योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग, श्लोक
४। ३८	२। १८ । २६
४। ३९	२। १९ । ९, १०, ११
४। ४२,४३	२। १९ । २९, ३१
४। ४४-४९	३। १ । १०,१२,१७,१९,२२,२३
४। ५०	३। ३ । २५
४। ५१,५२	३। ४ । ३९,४२,४४
४। ५३,५४	३। ४ । ४४,५८
४। ५५,५७	३। ५ । ३-५
४। ५८,६०	३। १७ । १०,१२,१३
४। ६१-६३	३। २२ । ३६,२९,३१
४। ६४,६५	३। २० । ९,१०
४। ६६	३। ८४ । ३६
४। ६७	३। ८९ । ३
४। ६८	३। १०३ । १४
४। ८२	३। ७ । १०
४। ८७	३। १०९ । २५
४। ८८-९८	३। १११ । १,२,८,१२,१५,१९,२० २२,२३,३५,३६,४०,४२
४। ९९-१११	३। ११२ । ५-७,११,१६,१७,१९-२५
४। ११२	३। ११३ । २
४। ११३-१३२	३। ११४ । ३-५,७,८,१२,१४,१९, १६-१८,२३,२९,३१,३४, ५१,५३,६०,६१,७५,७६,
४। १३३	३। ११५ । ४-५
५। १-२०	३। ११७ । २,५,६-१९,२१-२३,२८
५। २१-४०	३। ११८ । १-३,५-१९,२१-२३
५। ४१,४२	३। ११८ । २८-३० (संक्षिप्त) लघुयोगवासिष्ठ, ४।१३।१३०
५। ४३	लघुयोगवासिष्ठ, ३।१३।१३२,१३३

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	१८-२१	१ ।	१६	। २,१५,२४,२५
३ ।	२२-२५	१ ।	१७	। ८,२९,३१,३२
३ ।	२६-३२	१ ।	१८	। ४,१८,१९,३१,३८,६१
३ ।	३३	१ ।	१९	। ३०
३ ।	३४	१ ।	२०	। ३
३ ।	३५,३६	१ ।	२२	। ६,८
३ ।	३७,३८	१ ।	२३	। ३,११
३ ।	३९-४८	१ ।	२१	। १,२,५,६,११,१२,१८, २०,२३,३५
३ ।	४९-५१	१ ।	२६	। २३,२५,२९
३ ।	५२-५४	१ ।	२८	। २१,३१,३५
३ ।	५५	१ ।	२९	। १३
३ ।	५६	लघुयोगवासिष्ठ १		। १६५
३ ।	५७	कई श्लोकों का संक्षेप (देखिये)		
		१ ।	३१	। २४
४ ।	२-४	२ ।	११	। ५९,६१,६७
४ ।	५	२ ।	१३	। ११
४ ।	६	५ ।	५०	। १७
४ ।	७,८	५ ।	५६	। १५,२१
४ ।	९	५ ।	५७	। २२
४ ।	१०	५ ।	५९	। ३२
४ ।	११,१२	५ ।	६२	। ६,८
४ ।	१३-१६	४ ।	५६	। ३०,३१,३३
४ ।	१७-२३	४ ।	६१	। १-३, ५-७, १२-१४, १६
४ ।	२४	५ ।	१३	। २०
४ ।	२६	२ ।	१२	। १६,१७
४ ।	२८-३४	२ ।	१३	। ३८-४०, ५८,६१,६२,७२, ७५,८१
४ ।	३५-३७	२ ।	१५	। ३, ६, ११

महा-उपनिषद् अध्याय, श्लोक	योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग श्लोक
	१८,२२,३७,३८
६ । १-५	४ । ५६ । २५,३४,३७,४१-१
६ । ६-९	४ । ५७ । २२-२५,२९,३७
६ । १०	४ । ५८ । ७,४०
६ । ११	लघु योगवासिष्ठ ४।१८।४०
६ । १२-१५	५ । ५ । ३१,४३,६१
६ । १६	५ । ६ । ८
६ । १७-२१	५ । ८ । १-११,१३,१७
६ । २२-२७	५ । ९ । २५,३३,३६,४१, ४४,५२,६०
६ । २८-३४	५ । १३ । २१,२८,३१,३३, ३३,३५,३८
६ । ३५-३८	५ । १४ । ४६,४८,५०,५२
६ । ३९-४०	५ । १५ । २३,२४,२७
६ । ४१-४९	५ । १६ । ७-१२,१५,१८-२१
६ । ५०-६२	५ । १७ । ५,७,९,१३ १७, १९,२०,२२,२७
६ । ६३-७१	५ । १८ । ५ ९,१७,१८,२२,२४, १९,२१,६१
६ । ७२	५ । १८ । ६१ और ५,२०,३७
६ । ७३।७५	५ । २१ । २,८,११,१५
६ । ७६	५ । २२ । ३३
६ । ७७,७८	५ । २६ । १३,१४
६ । ७९-८२	५ । २७ । २,२०,२५,३२,३३

अन्नपूर्णोपनिषद् और योगवासिष्ठ

अन्नपूर्णा उपनिषद् में ३३७ श्लोक हैं, जिनमें से प्रथम १७ श्लोक भूमिका के हैं और बाकी श्लोक उपनिषद् के सिद्धान्तों के हैं। प्रथम १७ श्लोकों को—जो कि भूमिकामात्र हैं—छोड़ कर इस उपनिषद् के प्राय: सभी श्लोक योगवासिष्ठ के उपशम और निर्वाण (पूर्वार्द्ध) प्रकरण से संग्रह किए हुए हैं।

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
५ ।	४४-४६	३ ।	११९ ।	२१-२३
५ ।	४८-५१	३ ।	१२१ ।	५३-५६,६८
५ ।	५२-५३	३ ।	१२२ ।	५४,५३
५ ।	५४	४ ।	१ ।	३
५ ।	५५-५८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१४।२,४-६		
५ ।	५९	४ ।	१४ ।	४३
५ ।	६०,६१	४ ।	१५ ।	२१,२५
५ ।	६२-६९	४ ।	२२ ।	१-३,७-१०,३२
५ ।	७०-७५	४ ।	२३ ।	४४,४१,४३,५५-५८
५ ।	७६-८२,८४	४ ।	२४ ।	१,८-१४,१८,१९
५ ।	८५,८६	४ ।	२७ ।	२५,३५
५ ।	८८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१६।७		
५ ।	८९-९५	४ ।	३३ ।	५०-५७,५९
५ ।	९६,९७	४ ।	३५ ।	३,१८
५ ।	९८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१७।६		
५ ।	९९-१०३	४ ।	३५ ।	३,७,८ १४,१५
८ ।	१०४-१०७	४ ।	३९ ।	२३-२५,४३
५ ।	१०८-११२ ११४,११७	४ ।	४१	४,१३-१५,२०,३२
५ ।	११३	लघु योगवासिष्ठ ४।१७।४०		
५ ।	११८-१३५	४ ।	४२	११,१३-१६,२१ २३-२६,३१,३४, ३६-३८,४४,४५,५०
५ ।	१३६-१४३	४ ।	४३ ।	१,२,५,९-१२
५ ।	१४४-१६४	४ ।	४४ ।	१४-२८,३०,३१,४२-४९
५ ।	१६५,१६६	४ ।	।	४५,१४,२५,२६
५ ।	१६७-१७७	४ ।	४६ ।	२,४,५,७,१४, १६,१९,२१,२६
५ ।	१७८-१८५	४ ।	५४ ।	२-५,१२,१३,

महा-उपनिषद् अध्याय, श्लोक	योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग श्लोक
	१८,२२,३७,३८
६ । १-५	४ । ५६ । २५,३४,३७,४१-४७
६ । ६-९	४ । ५७ । २२-२५,२९,३७
६ । १०	४ । ५८ । ७,४०
६ । ११	लघु योगवासिष्ठ ४।१८।४०
६ । १२-१५	५ । ५ । ३९,४३,६१
६ । १६	५ । ६ । ८
६ । १७-२१	५ । ८ । ९-११,१३,१७
६ । २२-२७	५ । ९ । २५,३३,३६,४१, ४४,५२,६०
६ । २८-३४	५ । १३ । २१,२८,२९,३२, ३३,३५,३८
६ । ३५-३८	५ । १४ । ४६,४८,५०,५२
६ । ३९-४०	५ । १५ । २३,२४,२७
६ । ४१-४९	५ । १६ । ७-१२,१५,१८-२१
६ । ५०-६२	५ । १७ । ५,७,९,१३ १७, १९,२०,२२,२७
६ । ६३-७१	५ । १८ । ५-९,१७,१८,२२,२४, १९,२१,६१
६ । ७२	५ । १८ । ६१ और ५,२०,३७
६ । ७३।७५	५ । २१ । २,८,११,१५
६ । ७६	५ । २२ । ३३
६ । ७७,७८	५ । २६ । १३,१४
६ । ७९-८२	५ । २७ । २,२०,२५,३२,३३

अन्नपूर्णोपनिषद् और योगवासिष्ठ

अन्नपूर्णा उपनिषद् में ३३७ श्लोक हैं, जिनमें से प्रथम १७ श्लोक भूमिका के हैं और बाकी श्लोक उपनिषद् के सिद्धान्तों के हैं। प्रथम १७ श्लोकों को—जो कि भूमिकामात्र हैं—छोड़ कर इस उपनिषद् के प्रायः सभी श्लोक योगवासिष्ठ के उपशम और निर्वाण (पूर्वार्द्ध) प्रकरण से संग्रह किए हुए हैं।

अन्नपूर्णोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
१ ।	१८-१९	६/१ ।	११५ ।	१,४०
१ ।	२०-२२	६/१ ।	११७ ।	९,१०,११
१ ।	२३-२६	५ ।	५५ ।	२,३,७,८
१ ।	२८-३९	५ ।	५६ ।	१७-१९,३२,३०,३१,३३, ३४,४३,४९,५५,५६
१ ।	४०-४६	५ ।	५८ ।	३२,३३,३९,४१,४४,४७
१ ।	४७	५ ।	५९ ।	३२
१ ।	४८-५०	५ ।	६२ ।	९-११
१ ।	५१,५२	५ ।	६४ ।	४९-५१
१ ।	५३	५ ।	६५ ।	१
१ ।	५४,५५	५ ।	६४ ।	५५,५४
१ ।	५६,५७	५ ।	६७ ।	३३,४२
२ ।	१-७	५ ।	६८ ।	१,२,४,५,६,८,९
२ ।	८-११	५ ।	६९ ।	२,७-११
२ ।	१२-१६	५ ।	७० ।	१२,२६,३१-३३
२ ।	१७	५ ।	७१ ।	५६
२ ।	१८	५ ।	७२ ।	३६
२ ।	२०-२२	५ ।	७२ ।	४०,४१,३३,४३,४४
२ ।	२३	५ ।	७३ ।	३५।३६
२ ।	२४-२६	५ ।	७४ ।	९,१०,३३,३५
२ ।	२७	५ ।	७५ ।	२२
२ ।	२८-३१	५ ।	७७ ।	७,१३,१४,१६
२ ।	३२,३३	५ ।	७८ ।	४६,४९
२ ।	३४-४४	५ ।	७९ ।	२,८-१३,१५-१७,२०
३ ।	४-९	५ ।	८२ ।	९,११,१२,१५,१६,२१,२३
३ ।	९,१०	५ ।	८३ ।	४३,४४
३ ।	१०,११	५ ।	८४ ।	३
३ ।	११,१२	५ ।	८६ ।	३,५,६
३ ।	१३-२४	५ ।	८७ ।	३,७,११-१६,१८,१९,२१-२४

न्नपूर्णोपनिषद्	योगवासिष्ठ
ध्याय, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
४ । १–८	५ । ८९ । ९,१२–१४,२३,२७,३१, ३२,३३
४ । ९	लघु योगवासिष्ठ ४।२७।६६
४ । ११	५ । ८९ । ६३
४ । १२–२४	५ । ९० । १२,१४,४,५,१६,१८,२०, २३–२८,३०,३१
४ । ३१	३ । ७ । १०
४ । ३९–७२	५ । ९१ । ८,१०,१४,१९,२०,२१,२६ २७,२९,३६,३७,३९,४२,४३, ४६,४७,६६,७४–७७,८१– ८७,१०२,१०५,१०८,११०, १११–११३,११२
४ । ७३–९१	५ । ९२ । २–६,९,११–१७,२२,२५, २६,२७,२९,३०,३२,३४, ४९,५०
५ । १–७	५ । ९३ । १५,५५,५६,८२,८४,८५,९१
५ । ८–१३	६/१ । २ । २४–२६,३१,४६,५६
५ । १४	६/१ । ४ । ४
५ । १५–१९	६/१ । १० । १४,२०–२२,४४
५ । २०,२२,२३	६/१ । ११ । ७७,९९
५ । २४	६/१ । १२ । २
५ । २५–३२	६/१ । २५ । ३–५,७,३४,६३,६७,६८
५ । ३३,३४	६/१ । २८ । ४७,६८
५ । ३५,३६	६/१ । २९ । ६७,१३४
५ । ३७–४६	६/१ । ४४ । २,१०,१४,१६–१८, २४–२६,३०
५ । ४७,४८	६/१ । ५३ । १९,२२
५ । ४९–५३	६/१ । ६९ । १८–२०,४०,४५,४७
५ । ५५,५६	६/१ । ७८ । ३२–३४

अन्नपूर्णोपनिषद् अध्याय, श्लोक		योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग, श्लोक		
५ ।	५७-६०	६/१ ।	२६ ।	८,१२,१४,१६,२०
५ ।	६२	६/१ ।	२५ ।	२६
५ ।	६३	६/१ ।	९३ ।	४४
५ ।	६५, ६६	६/१ ।	१११ ।	३६, ४०
५ ।	६८	६/१ ।	११३ ।	२०
५ ।	६९	६/१ ।	११८ ।	७
५ ।	७०	६/१ ।	११९ ।	८
५ ।	७१	६/१ ।	१२० ।	१
५ ।	८१-९५	६/१ ।	१२० ।	१-१०, १२-१६, २२
५ ।	९६-१०१	६/१ ।	१२२ ।	४-८, ११
५ ।	१०२-१०६	६/१ ।	१२३ ।	६-८, १०, ११
५ ।	१०७-१११	६/१ ।	१२४ ।	२३-२७
५ ।	११२-११८	६/१ ।	१२५ ।	१, २, ४-८

मुक्तिकोपनिषद् और योगवासिष्ठ

मुक्तिकोपनिषद् में दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय भूमिका-मात्र है। इस अध्याय में १०८ उपनिषदों के नाम दिए हैं। दूसरे अध्याय में, जोकि उपनिषद् का मुख्य भाग है, ७६ श्लोक हैं। ये श्लोक सारे के सारे योगवासिष्ठ से चुने हुए हैं। लेकिन वे इस क्रम से संग्रह किए गए हैं कि उनको योगवासिष्ठ से ढूँढ निकालना बहुत कठिन है। इनमें से बहुत से श्लोकों का हमको पता चल गया है, जैसा कि नीचे के अंकों से प्रतीत होगा। उपनिषत्कार ने इन श्लोकों के आरम्भ में यह लिखकर "अत्र श्लोका भवन्ति" इस बात को सूचित भी कर दिया है कि ये श्लोक किसी दूसरे स्थान से लिए गए हैं।

मुक्तिकोपनिषद् अध्याय २, श्लोक	योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग, श्लोक		
१	२ ।	५ ।	४
३-९	२ ।	९ ।	२५-२७,३०-३३,३५,३८
१०-१४	६ ।	१२ ।	१७,१६,१८,२२,२३

मुक्तिकोपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय २, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१६,१७	५ । ३४ । ३२,२८
१८ २१	५ । ५७ । १९,२६,२८
२५-२७	८ । ९१ । ३५,५३,६४,४८
२९	५ । ९१ । ३७
३०,३१	२ । ९ । ४१।४२
३२-३५	५ । ९० । ४,११,१६,१८,२०,२३
३६-३८	५ । ९ । ५५,५६
३९	[illegible] । ३५ । १८
४०	४ । २४ । ८-१०
४२	४ । २३ । ५८
४३,४४	५ । ९२ । ३३-३५
४५,४७	५ । ९२ । ३६-३९
४८	५ । ९१ । १४
५१-५२	[illegible] । २५ । ८,१६,१७
५७ ६०	५ । ९१ । २९-३२
६१ ६२	१ । ३ । ११,१२
६८-७१	४ । ५७ । १९,२०-२२
७६	३ । ९ । १४

वराहोपनिषद् और योगवासिष्ठ

वराहोपनिषद् में पाँच अध्याय हैं, जिनमें से चौथा अध्याय जिसमें कि ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन है, योगवासिष्ठ के श्लोकों से बना है। इन श्लोकों से पहले इस उपनिषद् में यह लिखा है "तत्रैते श्लोका भवन्ति", जिससे यह प्रकट है कि ये श्लोक उपनिषत्कार ने किसी दूसरे स्थान से लिए हैं। वे ये हैं —

वराहोपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय ४, श्लोक	प्रकरण, सर्ग श्लोक
१ १०	३ । ११८ । ५,६,८-१९

वराहोपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय ४, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
११-१८	६ । १२६ । ५२,६०-६१
२१-२७	३ । ९ । ४,६-९,११,१२

अक्ष्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

अक्षि-उपनिषद् एक छोटा सा उपनिषद् है। इसमें ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन है। छोटी सी प्रस्तावना को, जो कि गद्य में है, छोड़ कर इस उपनिषद् में ४८ श्लोक हैं। जिनमें से ३६ श्लोक योगवासिष्ठ के एक ही सर्ग में से, जिसमें कि और बहुत से श्लोक इसी विषय के हैं, चुने हुए हैं। वे ये हैं :—

अक्ष्युपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
२-४०	६ । १२६ । १८,१९,८-३०,३२,३३,३६ ३८,४१,४२,५८-६८, ७०,७१

संन्यासोपनिषद् और योगवासिष्ठ

संन्यासोपनिषद् में, जिसमें संन्यास का वर्णन है, १०४ श्लोक हैं। जिनमें से आधे के लगभग योगवासिष्ठ के उपशम प्रकरण में से चुने हुए हैं। वे ये हैं :—

संन्यासोपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१३-५१	५ । ३४ । ९,२०,६८,६९,९०,१००, १०१,१०४,११२,११४
	५ । ३५ । ४,११,३८,३९,७७,७८,८१
	५ । ३९ । ४७,४८,४९
	५ । ४० । १९
	५ । ४२ । १४,१५
	५ । ५० । २१,२२२,२९,३४ ३५,३९,४२

ं चासोपनिपद् श्लोक	योगवासिष्ट प्रकरण, सर्ग, श्लोक
६१-६७	६ । ६१ । ३१,३३,३९
	६ । ६३ । ६७,७६,७८,७९

ज्ञवल्क्योपनिपद् और योगवासिष्ठ

याज्ञवल्क्योपनिपद् में कुल २४ श्लोक हैं जिनमें से १० श्लोक गवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण के २१ वें सर्ग में से चुने हुए हैं। वे हैं।

ज्ञवल्क्योपनिपद् श्लोक	योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग, श्लोक
५-१४	१ । २१ १,२,०,६,११, ३,१८, २०,२३,२९

शाण्डिल्योपनिपद् और योगवासिष्ठ

शाण्डिल्योपनिपद् मे योगवासिष्ठ के १२ श्लोक हैं इनका यय प्राणनिरोध द्वारा मनोनिरोध है। इनके आदि में "तदेते श्लोका वन्ति" लिखा है। वे ये हैं:—

शाण्डिल्योपनिपद् अध्याय, खण्ड श्लोक	योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग श्लोक
१ । ७ । २४-३६	५ । ७९ । ८,१९,१६,१८-२१,२९, २७-३१,३९

मैत्रेय्युपनिपद् और योगवासिष्ठ

मैत्रेय्युपनिपद् में भी योगवासिष्ठ के बहुत से श्लोक मालूम पड़ते हैं। किन्तु हमको निम्नलिखित अङ्कों वाले श्लोक मिल गये हैं।

मैत्रेय्युपनिपद् अध्याय, श्लोक		योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१ ।	१०	३ । ९ । ४७
२ ।	२७	३ । १२६ । ३८-३९
२ ।	३०	३ । ११७ । ९

वराहोपनिपद्	योगवासिष्ठ
अध्याय ४, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
११-१८	६ । १२६ । ५२,६०-६९
२१-२७	३ । ९ । ४,६-९,११,१३

अक्ष्युपनिपद् और योगवासिष्ठ

अक्षि-उपनिपद् एक छोटा सा उपनिषद् है। इसमें ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन है। छोटी सी प्रस्तावना को, जो कि गद्य में है, छोड़ कर इस उपनिपद् में ४८ श्लोक हैं। जिनमें से ३६ श्लोक योगवासिष्ठ के एक ही सर्ग में से, जिसमें कि और बहुत से श्लोक इसी विषय के हैं, चुने हुए हैं। वे ये हैं:—

अक्ष्युपनिपद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
२-४०	६ । १२६ । १८,१९,८-३०,३२,३३,३६ ३८,४१,४२,५८-६८, ७०,७१

संन्यासोपनिपद् और योगवासिष्ठ

संन्यासोपनिपद् में, जिसमें संन्यास का वर्णन है, १०४ श्लोक हैं। जिनमें से आधे के लगभग योगवासिष्ठ के उपशम प्रकरण में से चुने हुए हैं। वे ये हैं:—

संन्यासोपनिपद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१३-५१	५ । ३४ । ९,२०,६८,६९,९०,१००, १०१,१०४,११२,११४
	५ । ३५ । ४,११,२८,३९,७७,७८,८१
	५ । ३९ । ४७,४८,४९
	५ । ४० । १९
	५ । ४२ । १४,१५
	५ । ५० । २१,२२२,२९,३४ ३५,३९,४२

संन्यासोपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
६१-६७	५ । ६१ । ३१,३३,३८
	५ । ६३ । ६७,७५,७८,७९

याज्ञवल्क्योपनिषद् और योगवासिष्ठ

याज्ञवल्क्योपनिषद् में कुल २४ श्लोक हैं जिनमें से १० श्लोक योगवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण के २१ वें सर्ग में से चुने हुए हैं। वे ये हैं।

याज्ञवल्क्योपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
५-१४	१ । २१ १,२,५,६,११, ९,१८, २०,२३,३५

शाण्डिल्योपनिषद् और योगवासिष्ठ

शाण्डिल्योपनिषद् में योगवासिष्ठ के १३ श्लोक हैं इनका विषय प्राणनिरोध द्वारा मनोनिरोध है। इनके आदि में 'तदेते श्लोका भवन्ति" लिखा है। वे ये हैं :—

शाण्डिल्योपनिषद्			योगवासिष्ठ		
अध्याय,	खण्ड	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग	श्लोक
१ ।	७	। २४-३६	५ ।	७५	। ८,१५,१६,१८-२१,२५, २७-३१,३९

मैत्रेय्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

मैत्रेय्युपनिषद् में भी योगवासिष्ठ के बहुत से श्लोक मालूम पड़ते हैं। किन्तु हमको निम्नलिखित अङ्कों वाले श्लोक मिल गये हैं।

मैत्रेय्युपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
१ ।	१०	३ ।	९ ।	४७
२ ।	२७	२ ।	१२६ ।	३८-३९
२ ।	३०	३ ।	११७ ।	९

योगकुण्डल्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

योगकुण्डल्युपनिषद् में हमको केवल दो श्लोक योगवासिष्ठ के मिले हैं। वे ये हैं:—

योगकुण्डल्युपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	२४	३ ।	६ ।	४७
३ ।	३४	३ ।	६ ।	१४

पैङ्गलोपनिषद् और योगवासिष्ठ

पैङ्गलोपनिषद् में हमको अभी तक केवल १ श्लोक योगवासिष्ठ का मिला है। यह श्लोक और कई उपनिषदों में भी आया है। वह यह है:—

पैङ्गलोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	११	३ ।	६ ।	१४

परिच्छेद ५
योगवासिष्ठ की शैली

योगवासिष्ठ की दार्शनिक ग्रन्थों में गणना न होने का विशेष कारण उसकी लेखशैली ही जान पड़ती है। इस ग्रन्थ में दार्शनिकों के बाल की खाल निकालने वाले तर्क-वितर्कों और नीरस और शुष्क सूत्रमयी भाषा का सर्वथा अभाव है। न इसमें उत्तरकालीन लेखकों की नाईं अनुमान की परिभाषा का ही प्रयोग पाया जाता है, न प्रमाण ग्रन्थों की उक्तियाँ। इस ग्रन्थ का लेखक जो कुछ कहना चाहता है, सरल और सीधी भाषा में कहता है, और इस ढङ्ग से कहता है कि उसका कथन हृदय में तीर की नाईं प्रवेश करके मन में बैठ जाता है, और फिर पढ़ने अथवा सुननेवाले को न किसी प्रमाण की आवश्यकता रहती है और न किसी शास्त्र की उक्ति की। वह जो कुछ कहता है अपने अनुभव से कहता और सरल और सुन्दर, सरस और काव्यमयी भाषा में कहता है, और दृष्टान्तों और उपाख्यानों द्वारा अपने कथन का समर्थन करता है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ और दार्शनिक ग्रन्थों की नाईं दार्शनिक विद्वानों को ही प्रिय नहीं बल्कि साहित्य के रसिकों को भी प्रिय है। दृष्टान्तों की प्रचुरता के कारण प्रायः सभी कक्षाओं के पाठक इसका रस ले सकते हैं और इसके सिद्धान्तों को समझ सकते हैं। उपाख्यानों के कारण सर्वसाधारण मनुष्य भी इसमें आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। इस कथन में किञ्चिन्मात्र भी अत्युक्ति नहीं है कि यह ग्रन्थ एक उत्तम और सरस काव्य है। योगवासिष्ठकार का यह कहना बिल्कुल ठीक है—

शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम्।
काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम्॥ (२।१८।३३)

अर्थात् यह शास्त्र सुबोध है, अलङ्कारों से विभूषित है, रसमय सुन्दर काव्य है, और इसके सिद्धान्त दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित हैं।

योगवासिष्ठकार को रसहीन, रूखी और कठिन भाषा पसन्द नहीं है, क्योंकि वह श्रोता के हृदय में न प्रवेश ही कर पाती है और न वहाँ पर जाकर प्रकाश करती है।

यत्कथ्यते हि हृदयंगमयोपमान-
युक्त्या गिरा मधुरयुक्तपदार्थया च।
श्रोतुस्तदङ्ग हृदयं परितो विसारि
व्याप्नोति तैलमिव वारिणि वार्य शङ्काम् ॥ (३।८४।४५)
त्यक्तोपमानममनोज्ञपदं दुरापं
क्षुब्धं धराविधुरितं विनिगीर्णवर्णम्।
श्रोतुर्न याति हृदयं प्रविनाशमेति
वाक्यं किलाज्यमिव भस्मनि हूयमानम् ॥ (३।८४।४६)

अर्थात् जो कुछ ऐसी भाषा में कहा जाता है जो कि मधुर शब्दों वाली और समझ में आने वाले दृष्टान्तों (उपमाओं) और युक्तियों वाली हो, वह सुनने वाले के हृदय में प्रवेश करके वहाँ पर इस प्रकार फैल जाती है जिस प्रकार कि तेल की बूँद जल के ऊपर, और सुनने वाले की सब शंकाएँ दूर हो जाती हैं। इसके विपरीत वह भाषा जो कि कठिन, कठोर, कठिनाई से उच्चारण किए जाने वाली, सरस शब्दों और उपमाओं (दृष्टान्तों) से रहित है, वह सुनने वालों के हृदय में प्रवेश नहीं कर सकती और वह इस प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार राख में पड़ा हुआ घृत।

उचित दृष्टान्तों के द्वारा ही कठिन से कठिन विषय का हृदय में प्रवेश कराया जा सकता है।

आख्यानकानि भुवि यानि कथाश्च या या
यद्यत्प्रमेयमुचितं परिपेलवं या।
दृष्टान्तदृष्टिकथनेन तदेति साधो
प्रकाश्यमाशु भुवनं सितरश्मिनेव ॥ (३।८४।४७)

अर्थात्—संसार में जितनी कथाएँ और आख्यान हैं और जो जो विषय उचित और गहन हैं, वे सब दृष्टान्त रीति से कहने से ऐसे प्रकाशित होते हैं जैसे कि संसार सूर्य की किरणों द्वारा।

इन विचारों को अपने हृदय में रख कर योगवासिष्ठकार ने ब्रह्म-विद्या को काव्य के रूप में संसार के समक्ष रखने का प्रयत्न किया है। काव्य, दर्शन और आख्यायिका का यह सुन्दर सङ्गम—त्रिवेणी के समान महत्त्व वाला है। तीर्थराज जिस प्रकार पापों का विनाश करता है उसी प्रकार योगवासिष्ठ भी अविद्या का विनाश करता है।

इसका पाठ करने वाला यह अनुभव करता है कि वह किसी जीते जागते आत्मानुभव वाले महान् व्यक्ति के स्पर्श में आ गया है, और उसके मन में उठने वाली सभी शंकाओं का उत्तर यथोचित सुबोध, सुन्दर और सरस भाषा में मिलता जा रहा है, दृष्टान्तों द्वारा कठिन से कठिन विचारों और सिद्धान्तों का मन में प्रवेश होता जा रहा है, और कहानियों द्वारा यह दृढ़ निश्चय होता जाता है कि ये सिद्धान्त, जिनका इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया गया है, केवल सिद्धान्त मात्र और कल्पना मात्र ही नहीं हैं बल्कि जगत् और जीवन में अनुभूत होने वाली सच्ची सच्ची घटनाएँ हैं।

इस ग्रन्थ में किसी दूसरे मत अथवा सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का न खण्डन है और न किसी के ऊपर आक्षेप। क्योंकि योगवासिष्ठकार की दृष्टि इतनी उदार और विस्तृत है कि वह सब मतों में ही सत्य को वर्तमान पाता है। उसके विशाल दर्शन में सभी मतों का स्थान है। उसको किसी का भी विरोध नहीं करना है। उसको तो वह सिद्धान्त प्रतिपादन करना है, जिसमें सभी इतर सिद्धान्तों का समावेश है और जिसके विशाल मन्दिर में सभी मत और सम्प्रदाय अविरोधात्मक रूप से अपना अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकते हैं। सत्य तो सत्य ही है। प्रत्येक व्यक्ति और सम्प्रदाय को उसके प्राप्त करने का अधिकार है क्योंकि सभी कोई सत्य की खोज में हैं। उसको कोई किसी एक दृष्टिकोण से देखता है कोई किसी दूसरे से। लड़ाई और विरोध क्यों होना चाहिए। योगवासिष्ठकार के इस प्रकार के भावों के कुछ उदाहरण हम यहाँ पर देते हैं।

(१) बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः। (६।२।८।१४)

अर्थात् बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद में हमको कोई भेद नहीं जान पड़ता। ऊँची दृष्टि से देखने से दोनों एक ही हैं।

(२) मन के स्वरूप के विषय में नाना दर्शनों के मतों का वर्णन करके योगवासिष्ठकार कहता है :—

सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम्।
विचित्रं देशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः॥ (३।९६।५१)
अज्ञानात्परमार्थस्य विपर्यासावबोधतः।
केवलं विवदन्त्येते विकल्पैरररवत्॥ (३।९६।५२)

यत्कथ्यते हि हृदयंगमयोपमान-
युक्त्या गिरा मधुरयुक्तपदार्थया च।
श्रोतुस्तदङ्ग हृदयं परितो विसारि
व्याप्नोति तैलमिव वारिणि वार्य शङ्काम् ॥ (३।८४।४५)
त्यक्तोपमानममनोज्ञपदं दुरापं
क्षुब्धं धराविधुरितं विनिगीर्णवर्णम्।
श्रोतुर्न याति हृदयं प्रविनाशमेति
वाक्यं किलाज्यमिव भस्मनि हूयमानम् ॥ (३।८४।४६)

अर्थात् जो कुछ ऐसी भाषा मे कहा जाता है जो कि मधुर शब्दों वाली और समझ में आने वाले दृष्टान्तों (उपमाओं) और युक्तियों वाली हो, वह सुनने वाले के हृदय में प्रवेश करके वहाँ पर इस प्रकार फैल जाती है जिस प्रकार कि तेल की बूँद जल के ऊपर, और सुनने वाले की सब शंकाएँ दूर हो जाती हैं। इसके विपरीत वह भाषा जो कि कठिन, कठोर, कठिनाई से उच्चारण किए जाने वाली, सरस शब्दों और उपमाओं (दृष्टान्तों) से रहित है, वह सुनने वालों के हृदय में प्रवेश नहीं कर सकती और वह इस प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार राख में पड़ा हुआ घृत।

उचित दृष्टान्तों के द्वारा ही कठिन से कठिन विषय का हृदय में प्रवेश कराया जा सकता है।

आख्यानकानि भुवि यानि कथाश्च या या
यद्यत्प्रमेयमुचितं परिपेलवं वा।
दृष्टान्तदृष्टिकथनेन तदेति साधो
प्रकाश्यमाशु भुवनं सितरश्मिनेव ॥ (३।८४।४७)

अर्थात्—संसार मे जितनी कथाएँ और आख्यान हैं और जो जो विषय उचित और गहन हैं वे सब दृष्टान्त रीति से कहने से ऐसे प्रकाशित होते हैं जैसे कि संसार सूर्य की किरणों द्वारा।

इन विचारों को अपने हृदय में रख कर योगवासिष्ठकार ने ब्रह्म-विद्या को काव्य के रूप में संसार के समक्ष रखने का प्रयत्न किया है। काव्य, दर्शन और आख्यायिका का यह सुन्दर सङ्गम—त्रिवेणी के समान महत्त्व वाला है। तीर्थराज जिस प्रकार पापों का विनाश करता है उसी प्रकार योगवासिष्ठ भी अविद्या का विनाश करता है।

योगवाले ईश्वर, शैव लोग शिव, कालवादी काल, आत्मवादी आत्मा का आत्मा, अनात्मवादी अनात्मा, माध्यमिक लोग मध्यम और सब ओर समानदृष्टि रखनेवाले सर्व कहते हैं।

योगवासिष्ठ में सब गुण होते हुए भी आधुनिक पाठकों की दृष्टि से एक दो बड़े भारी दोष हैं। इसमें पुनरुक्ति बहुत है और किसी प्रकार की भी विषय सम्बन्धी तरतीब नहीं है। सब बातें सब जगह मौजूद हैं। न कोई क्रम है और न कोई विषयों का उचित स्थान। इस कारण से पढ़नेवालों को इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों का ठीक-ठीक और साफ़-साफ़ ज्ञान नहीं होने पाता। प्रकरण विभाग केवल नाममात्र है। प्रत्येक प्रकरण में प्रायः सभी प्रकरणों के सिद्धान्तों का वर्णन है—कितनी अच्छी बात होती कि प्रत्येक प्रकरण में उसी प्रकरण सम्बन्धी बातें होतीं। लेकिन ऐसा नहीं है। तीसरा दोष आजकल के पाठकों की दृष्टि से इस ग्रन्थ में यह है कि यह ग्रन्थ बहुत ही बड़ा है। बहुत सी बातें बार-बार कही गई हैं और उसी रूप में कही गई हैं। बहुत जगहों पर तो लेखक यही भूल गया है कि वह एक दार्शनिक ग्रन्थ लिख रहा है। उसको यही ध्यान रहा है कि वह एक काव्य लिख रहा है और काव्योचित सौन्दर्य की रचना करने में वह अपने आपको पूर्णतया भूल गया है। यह ग्रन्थकार का गुण और दोष दोनों ही है।

इन सब कारणों से हमने उन पाठकों के लाभ के लिये जो केवल इस ग्रन्थ के दार्शनिक सिद्धान्त ही संपूर्णतया और क्रमबद्ध रीति से जानना चाहें, इस बृहत् ग्रन्थ में से २५०० श्लोकों के लगभग चुनकर उनको दार्शनिक दृष्टिकोण से तरतीब देकर और उनको नाना विषयों में विभाजित करके एक ग्रन्थ वासिष्ठदर्शन नामक तैय्यार किया है। यह ग्रन्थ "प्रिन्स आफ़ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट सिरीज़" में यू० पी० गवर्नमेण्ट द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसमें योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ, दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी २५०० श्लोकों का संग्रह किया गया है। यह संग्रह अपने ढङ्ग का प्रथम प्रयास है। इस संग्रह का भी एक सार १५० श्लोकों में वर्तमान लेखक ने श्रीवासिष्ठदर्शनसार नाम से किया है जो कि हिन्दी अनुवाद और भूमिका समेत प्रकाशित हो चुका है।

योगवासिष्ठ के और भी अनेक संक्षेप किए जा चुके हैं। उनमें

स्वमार्गमभिशंसन्ति यादिनश्चित्रया दृशा ।
विचित्रदेशकालोत्थं मार्गं स्वं पथिका इव ॥ (३।६६।४३)

अर्थात् जिस प्रकार बहुत से मुसाफिर नाना देशों से चले आए हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगर को जाते हैं उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पद को नाना देश और काल में ज्ञात हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। नाना प्रकार से उस परमपद को पहुँचते हुए वे लोग—परमार्थ का किसी को भी ठीक ज्ञान न होने के कारण, और उसका विपरीत ज्ञान होने से भी-परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार बटोही लोग अपने अपने मार्ग को ही सर्वोत्तम समझते हैं उसी प्रकार वे भी अपने अपने सिद्धान्तों की ही प्रशंसा करते हैं।

(३) यही नहीं कि योगवासिष्ठकार का दूसरे दर्शनों के प्रति इस प्रकार की उदारता का भाव हो, बल्कि वह तो यहाँ तक कहता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही उस मार्ग पर चलना चाहिए जिस पर चलने से उसे किसी प्रकार की सफलता और सिद्धि प्राप्त होती हो। उस मार्ग को छोड़कर किसी दूसरे मार्ग पर चलना ठीक नहीं है।

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः ।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला ॥ (६।१२०।२)

अर्थात्—जिस मार्ग से जिस मनुष्य की उन्नति होती है उस मार्ग पर चले बिना उसकी गति न शोभा देती, न सुख देती है, न उसके हित के लिये है और न शुभ फलवाली होती है।

(४) परम तत्त्व का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार लिखता है :—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां परम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ॥ (५।८७।१८)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम् ॥ (५।८७।१९)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम् ।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम् ॥ (५।८७।२०)

अर्थात्—परम तत्त्व वही है जिसको शून्यवादी लोग शून्य, ब्रह्मवादी ब्रह्म, विज्ञानवादी विज्ञानमात्र, सांख्यदृष्टिवाले पुरुष,

के सारे दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन नहीं होता। और किसी प्रकार का यथोचित क्रम नहीं है।

मुक्तिकोपनिषद् में योगवासिष्ठ के 'वासनात्याग' के सिद्धान्त का ही ७६ श्लोकों में सार है। वराहोपनिषद् में "योगकी सात भूमिकाओं" और "जीवन्मुक्त के लक्षणों" का ही ३० श्लोकों में वर्णन है। 'योगकी सात भूमिकाओं" सम्बन्धी योगवासिष्ठ के ४० श्लोकों को लेकर किसी पाठक ने उनका नाम अक्षि-उपनिषद् रख लिया। योगवासिष्ठ के इन सब संक्षेपों में यही त्रुटियाँ हैं कि न तो उनमें कोई ठीक क्रम है और न उसके सारे सिद्धान्त उनमें रखने का प्रयत्न किया गया है। जो बातें जिसको पसन्द आईं उनको उसने योगवासिष्ठ में से निकाल कर अलग कर दिया और उस संग्रह को कोई नाम दे दिया।

इनसे भिन्न प्रकार का हमारा वासिष्ठदर्शन और उसका सार हमार वासिष्ठदर्शनसार है। इन दोनों में योगवासिष्ठ के सिद्धांत समग्र, क्रमबद्ध, यथोचित शीर्षकयुक्त रूप में रखने का प्रयास है। इनके एक बार पाठ से ही पाठक को योगवासिष्ठ के दर्शन का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा।

कुछ के नाम हम यहाँ पर देते हैं। इन सब में आजकल के पाठकों की दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ हैं।

सबसे उत्तम और सबसे प्रथम संक्षेप काश्मीर के गौड अभिनन्द द्वारा नवीं शताब्दी में किया हुआ लघु योगवासिष्ठ नामक है। इस में ४८२६ श्लोक हैं (६००० श्लोक कहे जाते हैं)। उन्हीं ६ प्रकरणों में जो कि योगवासिष्ठ में हैं, संक्षेपकार ने बृहत् ग्रन्थ की कहानियाँ और सिद्धान्तों का सार, ४८२६ श्लोकों में रखने का प्रयत्न किया है। प्रयत्न बहुत ही सराहनीय है, किन्तु इसमें योगवासिष्ठके बहुतसे दार्शनिक विषय छूट गए हैं, और निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध का सार बिलकुल ही नहीं दिया गया। यह निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध तक का ही सार है। इस ग्रन्थ में भी यह दोष है कि विषयों का कोई उचित क्रम नहीं है। जो तरतीब बृहत् ग्रन्थ में है वही इसमें है। जो लोग योगवासिष्ठ के सिद्धान्त और कहानियाँ—दोनों—संक्षेप से जानना चाहें उनके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उत्तम है, किन्तु जो लोग योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्त ही पूर्णतया जानना चाहें उनके लिये यह ग्रन्थ पर्याप्त नहीं है। प्रायः लोग इसी ग्रन्थ का पाठ करते हैं।

एक और सार, जो कि दार्शनिक दृष्टि से लघु योगवासिष्ठ से उत्तम है किसी अज्ञात व्यक्ति का किया हुआ है। उसका नाम योगवासिष्ठसार है। इसमें २२५ श्लोकों में निम्नलिखित शीर्षकों में बृहत् ग्रन्थ का सार किया गया है:—१—वैराग्य, २—जगन्मिथ्यात्व, ३—जीवन्मुक्तलक्षण, ४—मनोनाश, ५—वासनाक्षय, ६—आत्मध्यान, ७—आत्मार्चन, ८—आत्मस्वरूप, ६—जीवन्मुक्ति। यह भी एक उत्तम प्रयास है। लेकिन इसमें योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों का अंश मात्र ही आता है। तरतीब भी ठीक नहीं है। यह ग्रन्थ विलायत के कई हस्तलिखित पुस्तकों के पुस्तकालयों में मौजूद है, और कई वर्ष हुए मुरादाबाद के लक्ष्मीनारायण प्रेस से छपा भी था।

योगवासिष्ठ के और संक्षेप—जिनका पता अभीतक किसी को भी नहीं था—महोपनिषद् और अन्नपूर्णोपनिषद् नामक हैं। इनमें से प्रथम सार ५३५ श्लोकों में और द्वितीय ३३१ श्लोकों में है। इनमें भी ऊपरवाले सार की नाईं कहानियाँ नहीं हैं, केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का ही संग्रह है। किन्तु दोनों में मिलाकर भी योगवासिष्ठ

के सारे दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन नहीं होता। और किसी प्रकार का यथोचित क्रम नहीं है।

मुक्तिकोपनिषद् में योगवासिष्ठ के 'वासनात्याग' के सिद्धान्त का ही ७६ श्लोकों में सार है। वराहोपनिषद् में "योगकी सात भूमिकाओं" और "जीवन्मुक्त के लक्षणों" का ही ३० श्लोकों में वर्णन है। "योगकी सात भूमिकाओं" सम्बन्धी योगवासिष्ठ के ४० श्लोकों को लेकर किसी पाठक ने उनका नाम अक्षि-उपनिषद् रख लिया। योगवासिष्ठ के इन सब संक्षेपों में यही त्रुटियाँ हैं कि न तो उनमें कोई ठीक क्रम है और न उसके सारे सिद्धान्त उनमें रखने का प्रयत्न किया गया है। जो बातें जिसको पसन्द आईं उनको उसने योगवासिष्ठ में से निकाल कर अलग कर दिया और उस संग्रह को कोई नाम दे दिया।

इनसे भिन्न प्रकार का हमारा वासिष्ठदर्शन और उसका सार हमारा वासिष्ठदर्शनसार है। इन दोनों में योगवासिष्ठ के सिद्धांत समग्र, क्रमबद्ध, यथोचित शीर्षकयुक्त रूप में रखने का प्रयास है। इनके एक बार पाठ से ही पाठक को योगवासिष्ठ के दर्शन का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा।

कुछ के नाम हम यहाँ पर देते हैं। इन सब में आजकल के पाठकों की दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ हैं।

सबसे उत्तम और सबसे प्रथम संक्षेप काश्मीर के गौड अभिनन्द द्वारा नवीं शताब्दी में किया हुआ लघु योगवासिष्ठ नामक है। इस में ४८२६ श्लोक हैं (६००० श्लोक कहे जाते हैं)। उन्हीं ६ प्रकरणों में जो कि योगवासिष्ठ में हैं, संक्षेपकार ने बृहत् ग्रन्थ की कहानियों और सिद्धान्तों का सार, ४८२६ श्लोकों में रखने का प्रयत्न किया है। *प्रयत्न बहुत ही सराहनीय है*, किन्तु इसमें योगवासिष्ठके बहुतसे दार्शनिक विषय छूट गए हैं, और निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध का सार बिलकुल ही नहीं दिया गया। यह निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध तक का ही सार है। इस ग्रन्थ में भी यह दोष है कि विषयों का कोई उचित क्रम नहीं है। जो तरतीब बृहत् ग्रन्थ में है वही इसमें है। जो लोग योगवासिष्ठ के सिद्धान्त और कहानियाँ—दोनों—संक्षेप से जानना चाहें उनके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उत्तम है, किन्तु जो लोग योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्त ही पूर्णतया जानना चाहें उनके लिये यह ग्रन्थ पर्याप्त नहीं है। प्रायः लोग इसी ग्रन्थ का पाठ करते हैं।

एक और सार, जो कि दार्शनिक दृष्टि से लघु योगवासिष्ठ से उत्तम है किसी अज्ञात व्यक्ति का किया हुआ है। उसका नाम **योगवासिष्ठसार** है। इसमें २२५ श्लोकों में निम्नलिखित शीर्षकों में बृहत् ग्रन्थ का सार किया गया है:—१—वैराग्य, २—जगन्मिथ्यात्व, ३—जीवन्मुक्तलक्षण, ४—मनोनाश, ५—वासनाक्षय, ६—आत्मध्यान, ७—आत्मार्चन, ८—आत्मस्वरूप, ९—जीवन्मुक्ति। यह भी एक उत्तम प्रयास है। लेकिन इसमें योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों का अंश मात्र ही आता है। तरतीब भी ठीक नहीं है। यह ग्रन्थ विलायत के कई हस्तलिखित पुस्तकों के पुस्तकालयों में मौजूद है, और *कई वर्ष हुए मुरादाबाद के लक्ष्मीनारायण प्रेस से छपा भी था।*

योगवासिष्ठ के और संक्षेप—जिनका पता अभीतक किसी को भी नहीं था—महोपनिषद् और अन्नपूर्णोपनिषद् नामक हैं। इनमें से प्रथम सार ५३५ श्लोकों में और द्वितीय ३३१ श्लोकों में है। इनमें भी ऊपरवाले सार की नाई कहानियाँ नहीं हैं, केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का ही संग्रह है। किन्तु दोनों में मिलाकर भी योगवासिष्ठ

के सारे दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन नहीं होता। और किसी प्रकार का यथोचित क्रम नहीं है।

मुक्तिकोपनिषद् में योगवासिष्ठ के 'वासनात्याग' के सिद्धान्त का ही ७६ श्लोकों में सार है। वराहोपनिषद् में "योगकी सात भूमिकाओं" और "जीवन्मुक्त के लक्षणों" का ही ३० श्लोकों में वर्णन है। "योगकी सात भूमिकाओं" सम्बन्धी योगवासिष्ठ के ४० श्लोकों को लेकर किसी पाठक ने उनका नाम अक्षि-उपनिषद् रख लिया। योगवासिष्ठ के इन सब संक्षेपों में यही त्रुटियाँ हैं कि न तो उनमें कोई ठीक क्रम है और न उसके सारे सिद्धान्त उनमें रखने का प्रयत्न किया गया है। जो बातें जिसको पसन्द आईं उनको उसने योगवासिष्ठ में से निकाल कर अलग कर दिया और उस संग्रह को कोई नाम दे दिया।

इनसे भिन्न प्रकार का हमारा वासिष्ठदर्शन और उसका सार हमार वासिष्ठदर्शनसार है। इन दोनों में योगवासिष्ठ के सिद्धांत समग्र, क्रमबद्ध, यथोचित शीर्षकयुक्त रूप में रखने का प्रयास है। इनके एक बार पाठ से ही पाठक को योगवासिष्ठ के दर्शन का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा।

कुछ के नाम हम यहाँ पर देते हैं। इन सब में आजकल के पाठकों की दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ हैं।

सबसे उत्तम और सबसे प्रथम संक्षेप काश्मीर के गौड अभिनन्द द्वारा नवीं शताब्दी में किया हुआ लघु **योगवासिष्ठ** नामक है। इस में ४८२६ श्लोक हैं (६००० श्लोक कहे जाते हैं)। उन्हीं ६ प्रकरणों में जो कि योगवासिष्ठ में हैं, संक्षेपकार ने बृहत् ग्रन्थ की कहानियाँ और सिद्धान्तों का सार, ४८२६ श्लोकों में रखने का प्रयत्न किया है प्रयत्न बहुत ही सराहनीय है, किन्तु इसमें योगवासिष्ठके बहुतसे दार्शनि विषय छूट गए हैं, और निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध का सार बिलकु ही नहीं दिया गया। यह निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध तक का ही सार है। इस ग्रन्थ में भी यह दोष है कि विषयों का कोई उचित क्रम नहीं है। जो तरतीब बृहत् ग्रन्थ में है वही इसमें है। जो लोग योगवासिष्ठ के सिद्धान्त और कहानियों—दोनों—संक्षेप से जानना चाहे उनके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उत्तम है, किन्तु जो लोग योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्त ही पूर्णतया जानना चाहे उनके लिये यह ग्रन्थ पर्याप्त नहीं है। प्रायः लोग इसी ग्रन्थ का पाठ करते हैं।

एक और सार, जो कि दार्शनिक दृष्टि से लघु योगवासिष्ठ से उत्तम है किसी अज्ञात व्यक्ति का किया हुआ है। उसका नाम **योगवासिष्ठसार** है। इसमें २२५ श्लोकों में निम्नलिखित शीर्षकों में बृहत् ग्रन्थ का सार किया गया है:—१—वैराग्य, २—जगन्मिथ्यात्व, ३—जीवन्मुक्तलक्षण, ४—मनोनाश, ५—वासनाक्षय, ६—आत्मध्यान, ७—आत्मार्चन, ८—आत्मस्वरूप, ९—जीवन्मुक्ति। यह भी एक उत्तम प्रयास है। लेकिन इसमें योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों का अंश मात्र ही आता है। तरतीब भी ठीक नहीं है। यह ग्रन्थ विलायत के कई हस्तलिखित पुस्तकों के पुस्तकालयों में मौजूद है, और कई वर्ष हुए मुरादाबाद के लक्ष्मीनारायण प्रेस से छपा भी था।

योगवासिष्ठ के और संक्षेप—जिनका पता अभीतक किसी को भी नहीं था—**महोपनिषद्** और **अन्नपूर्णोपनिषद्** नामक हैं। इनमें से प्रथम सार ४३५ श्लोकों में और द्वितीय ३३१ श्लोकों में है। इनमें भी ऊपरवाले सार की नाईं कहानियाँ नहीं हैं, केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का ही संग्रह है। किन्तु दोनों में मिलाकर भी योगवासिष्ठ

के सारे दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन नहीं होता। और किसी प्रकार का यथोचित क्रम नहीं है।

मुक्तिकोपनिषद् में योगवासिष्ठ के 'वासनात्याग' के सिद्धान्त का ही ७६ श्लोकों में सार है। वराहोपनिषद् में "योगकी सात भूमिकाओं" और "जीवन्मुक्त के लक्षणों" का ही ३० श्लोकों में वर्णन है। "योगकी सात भूमिकाओं" सम्बन्धी योगवासिष्ठ के ४० श्लोकों को लेकर किसी पाठक ने उनका नाम अक्षि-उपनिषद् रख लिया। योगवासिष्ठ के इन सब संक्षेपों में यही त्रुटियाँ हैं कि न तो उनमें कोई ठीक क्रम है और न उसके सारे सिद्धान्त उनमें रखने का प्रयत्न किया गया है। जो बातें जिसको पसन्द आईं उनको उसने योगवासिष्ठ में से निकाल कर अलग कर दिया और उस संग्रह को कोई नाम दे दिया।

इनसे भिन्न प्रकार का हमारा **वासिष्ठदर्शन** और उसका सार हमारा **वासिष्ठदर्शनसार** है। इन दोनों में योगवासिष्ठ के सिद्धांत उत्तम, क्रमबद्ध, यथोचित शीर्षकयुक्त रूप में रखने का प्रयास है। इनके एक बार पाठ से ही पाठक को योगवासिष्ठ के दर्शन का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा।

वसिष्ठजी ने उसे अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा ही जानकर रामचन्द्रजी को बतलाया था जैसा कि योगवासिष्ठगत भविष्यकालीन भाषा से प्रकट है। किन्तु इतिहासज्ञ पण्डित यह नहीं मानेंगे। वे तो यही कहेंगे कि भगवद्गीता योगवासिष्ठ के रचना काल में अवश्य ही वर्तमान रही होगी। यह सम्भव है कि उसमें आजकल प्राप्त होनेवाले सभी ७०० श्लोक न रहे हों। हमें यहाँ पर इस विषय में और कुछ नहीं कहना है। यह विषय भगवद्गीता के विद्वानों के लिए छोड़ते हैं। (देखिये हमारा कल्याण के गीताङ्क में "योगवासिष्ठ में भगवद्गीता" नामक लेख)।

———

परिच्छेद ७

योगवासिष्ठ के उपाख्यान

जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं। योगवासिष्ठकार ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वानुभव, दृष्टान्त और उपाख्यानों द्वारा किया है। समस्त ग्रन्थ में ५५ उपाख्यान हैं। इनमें से कुछ उपाख्यान तो बहुत ही अच्छे, रोचक और उपदेशप्रद हैं। वसिष्ठ और रामचन्द्रजी का संवाद भी एक उपाख्यान ही के रूप में है। योगवासिष्ठ की दृष्टान्तों और कहानियों द्वारा महाज्ञान के उपदेश करने की इस रीति का गुजराती भाषा में चन्द्रकान्त, उर्दू में चहल दरवेश और हिन्दी में ज्ञानवैराग्यप्रकाश नामक पुस्तकों में भली-भाँति अनुसरण किया गया है। यहाँ पर हम पाठकों को योगवासिष्ठ के सब उपाख्यानों का दिग्दर्शन मात्र कराना चाहते हैं।

(१) योगवासिष्ठ की कथा

एक समय सुतीक्ष्ण नामक एक ब्राह्मण के मनमें यह शंका उत्पन्न हुई कि मोक्ष प्राप्ति का साधन कर्म है अथवा ज्ञान, अथवा दोनों। इस संशय की निवृत्ति के लिये वह अगस्ति के आश्रम पर गया और उसने उनसे यही प्रश्न किया। अगस्ति ने उत्तर दिया:— मोक्ष न केवल कर्म से प्राप्त होगा है, न केवल ज्ञान से ही। पक्षी एक पंख से नहीं उड़ सकता। जैसे उसे आकाश में उड़ने के लिए दोनों पंखों की आवश्यकता है, ऐसे ही ज्ञान और कर्म दोनों ही मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। मैं इस विषय में तुमको एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ:— अग्निवेश्य का वेदवेदाङ्ग जानने वाला एक पुत्र गुरु के घर से विद्या पढ़कर लौट आने पर इसी प्रकार की शंका से व्यथित होकर सब नित्य नैमित्तिक कर्मों को त्याग कर चुपचाप रहने लगा। अग्निवेश्य ने अपने पुत्र को इस अकर्मण्य दशा में देखकर उससे कहा '—पुत्र! तुम कर्म क्यों छोड़ बैठे? कर्म किए बिना तुमको सिद्धि कैसे प्राप्त होगी। कारुण ने कहा '—पिताजी! कुछ शास्त्र तो परमार्थ सिद्धि के लिए कर्म करने का उपदेश देते हैं और कुछ कर्म त्याग का। मेरी समझ में नहीं आता कि कौन सा मार्ग ठीक है। आप ही इस विषय में मुझे यथोचित उपदेश दीजिए। अग्निवेश्य बोले:—इस सम्बन्ध में

वसिष्ठजी ने उसे अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा ही जानकर रामचन्द्रजी को बतलाया था जैसा कि योगवासिष्ठगत भविष्यकालीन भाषा से प्रकट है। किन्तु इतिहासज्ञ पण्डित यह नहीं मानेंगे। वे तो यही कहेंगे कि भगवद्गीता योगवासिष्ठ के रचना काल में अवश्य ही वर्तमान रही होगी। यह सम्भव है कि उसमें आजकल प्राप्त होनेवाले सभी ७०० श्लोक न रहे हों। हमें यहाँ पर इस विषय में और कुछ नहीं कहना है। यह विषय भगवद्गीता के विद्वानों के लिए छोड़ते हैं। (देखिये हमारा कल्याण के गीताङ्क में "योगवासिष्ठ में भगवद्गीता" नामक लेख)।

ऋषि ! कृपया मुझे वह मार्ग बतलाइए जिसके द्वारा मैं संसार के बन्धन और दुःखों से निवृत्त हो जाऊँ। ऋषि ने कहा—हे राजन् ! मैं तुमको मोक्षप्राप्ति का वह सारा उपदेश सुनाता हूँ जो कि किसी समय पर वसिष्ठ ऋषि ने अपने शिष्य श्री रामचन्द्रजी को दिया था। उसको सुनकर तुमको आत्मबोध होगा और तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। इस मोक्षोपाय नामक वसिष्ठ-राम संवाद का मैंने बहुत दिन हुए संग्रह किया था। इसकी रचना करने पर मैंने इसे अपने विनीत शिष्य भरद्वाज को सुनाया था। भरद्वाज इसको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए, और ब्रह्माजी के पास जाकर उन्होंने इसको ब्रह्माजी को सुनाया। ब्रह्माजी इसको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने यह आशीर्वचन कहा "—श्री वाल्मीकिजी ने संसार के उपकार के लिये यह ऐसा उत्तम ग्रन्थ बनाया है कि इसके श्रवणमात्र से ही मनुष्य भवसागर से सहज में पार हो जावेंगे। राजन् ! वही ग्रन्थ मैं तुमको अब तुम्हारे हित के लिये सुनाता हूँ। दूत ने सुरुचि को वह सारी कथा कह सुनाई जो कि उसने वाल्मीकि ऋषि के मुँह से सुनी थी।

(२) वसिष्ठ-राम-संवाद की कथा

अरिष्टनेमी ने वाल्मीकिजी से पूछा—हे भगवन् ! राम कौन थे और उनको वसिष्ठजी ने क्यों और क्या उपदेश किया ? ऋषि बोले—शाप के कारण अब मनुष्य का रूप धारण किए हुए श्री विष्णु भगवान् ही रामचन्द्र थे। एक समय विष्णु भगवान् ब्रह्मलोक में गए। सब लोगों ने उठकर उनको प्रणाम किया, किन्तु सनत्कुमार शान्तचित्त स्थिरभाव से बैठे रहे। यह देखकर विष्णु को उनपर क्रोध आ गया और उन्होंने उनको शाप दिया—हे सनत्कुमार ! तुमको अपने निष्काम होने का गर्व है इसलिये इस गर्व को दूर करने को मैं तुमको शाप देता हूँ कि तुम शरजन्म नाम के कामी राजा के रूप से पृथ्वीलोक में जन्म लोगे। सनत्कुमार ने यह सुनकर विष्णु भगवान् से कहा—मैं भी आप को शाप देता हूँ कि आप अपनी सर्वज्ञता को छोड़कर, जिसका कि आप को गर्व है, कुछ दिनों तक अज्ञानी जीव बनकर भूमण्डल पर वास करोगे। वही विष्णु अयोध्या के राजा दशरथ के यहाँ रामचन्द्र नामक पुत्र के रूप में आए थे, और जबतक वसिष्ठ जी द्वारा उनको आत्मज्ञान का उपदेश नहीं हुआ था, अज्ञानी ही रहे थे।

इस उपदेश के दिए जाने की कथा इस प्रकार है:—एक समय,

मैं तुमको एक पुरानी कथा सुनाता हूँ। उसको सुनकर तुम्हारी यह शंका पूर्णतया निवृत्त हो जावेगी :—एक समय सुरुचि नाम की एक सुन्दर अप्सरा हिमालय के शिखर पर बैठी हुई प्रकृति की शोभा का निरीक्षण कर रही थी। उसने इन्द्र के एक दूत को अन्तरिक्ष में जाते हुए देखकर बुलाया और उससे पूछा—हे दूत, तुम कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जाओगे? दूत ने उत्तर दिया :—सुभगे! भूलोक में अरिष्टनेमी नामका एक राजा था। उसने अपने पुत्र को राज्य देकर अपने भविष्य कल्याण के लिये गन्धमादन पर्वत पर घोर तप करना आरम्भ कर दिया था। मेरे स्वामी इन्द्र को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने अपने दूतों को भेजकर उनको बड़े आदर और सत्कार के साथ अपने यहाँ बुलवा लिया और स्वर्ग में रहने के लिये उनको निमंत्रित किया। राजा ने इन्द्र से यह प्रार्थना की :—हे देव! स्वर्ग में वास करने से पहिले मैं यह जानना चाहता हूँ कि स्वर्ग में वास करने के गुण और दोष क्या हैं। इन्द्र ने कहा :—राजन्, स्वर्ग में नाना प्रकार के भोग हैं, पर वे सब अपने-अपने शुभ कर्मों के अनुसार ही मिलते हैं। उत्तम कर्मोंवालों को उत्तम भोग, मध्यम कर्मोंवालों को मध्यम, और कनिष्ठ प्रकार के पुण्य कर्मोंवालो को कनिष्ठ प्रकार के भोग स्वर्ग में प्राप्त होते हैं। ऊँची श्रेणी के व्यक्तियो को नीची श्रेणी वालों के प्रति अभिमान, नीची श्रेणीवालों को ऊँची श्रेणीवालों के प्रति ईर्ष्या और मन में वेदना होती है, बराबर श्रेणी के व्यक्तियों में एक को दूसरे के प्रति स्पर्धा होती है। पूर्वकृत पुण्य कर्मों का फल भोग द्वारा क्षीण हो जाने पर स्वर्गवासियों को फिर मर्त्यलोक में वापिस जाकर जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है। यह सुनकर राजा ने इन्द्र से कहा :—देव! इस प्रकार के स्वर्ग में रहने की मेरी इच्छा नहीं है। मुझे आप कृपया गन्धमादन पर्वत पर वापिस भेज दीजिए। वहीं पर मैं तप करते-करते किसी प्रकार की भोगेच्छा न रखते हुए अपने शरीर का त्याग कर दूँगा। हे देवि! इन्द्र ने तब मुझसे यह कहा :—हे दूत! यह राजर्षि तो तत्त्वज्ञान का अधिकारी है। इसको तुम वाल्मीकि ऋषि के आश्रम पर ले जाओ वे इनको आत्मज्ञान का उपदेश देंगे, जिसके श्रवण करने से इनको मोक्ष की प्राप्ति होगी। हे सुरुचि! देवराज इन्द्र की यह आज्ञा पाते ही मैं राजा अरिष्टनेमी को वाल्मीकि ऋषि के आश्रम पर ले गया। वहाँ पर पहुँच कर राजा ने वाल्मीकिजी को साष्टाङ्ग प्रणाम करके उनसे यह प्रश्न किया—हे

किस चीज़ का ध्यान करते हैं। हम केवल यही जानते हैं कि वे प्रतिदिन कृश होते जाते हैं, पीले पड़ते जाते हैं, और ऐसे प्रभाहीन होते जा रहे हैं जैसे कि शरद ऋतु के अन्त में वृक्ष। उनकी हालत को देखकर उनके और भाई भी दुखी रहते हैं। माताओं को भी बड़ी चिन्ता लग रही है। हे राजन्, हम नहीं जानते कि उनके लिए क्या किया जाय। अतः आपको सूचित करने आए हैं।

राजा को रामचन्द्रजी की ऐसी दशा सुनकर बहुत शोक हुआ। राजसभा में विश्वामित्रजी, जो कि राजा दशरथ से अपनी यज्ञरक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को माँगने आए थे--और वसिष्ठजी जो कि उनके राजगुरु थे, बैठे हुए थे। यह सब बातें सुनकर और राजा को चिन्तित देखकर विश्वामित्रजी बोले—हे राजन्, यदि रामचन्द्रजी का ऐसा हाल है तो उनको यहाँ बुलवाओ—हम उनका दुःख निवृत्त करेंगे। वसिष्ठजी उनको ऐसा उपदेश देंगे कि उनका सब शोक निवृत्त हो जावेगा, और उनको तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होगी। और वे संसार में एक आदर्श पुरुष होकर अपने जीवन को इस प्रकार बितावेंगे कि संसार उनका अनुकरण करेगा।

यह सुनकर राजा दशरथ की चिन्ता कुछ कम हुई। उन्होंने रामचंद्रजी को बुलवा लिया। रामचन्द्र वहाँ आए और सबको यथायोग्य प्रणाम करके बैठ गए। वसिष्ठ और विश्वामित्र के पूछने पर उन्होंने अपने मन की व्यथा विस्तारपूर्वक सुनाई। संक्षेपतः उनका कथन यह था:—ज्यों ज्यों मेरी शैशवावस्था व्यतीत हो रही है मेरे मन में यह विचार दृढ़ होता जाता है कि संसार में कोई भी सार वस्तु नहीं है। जगत् में मुझे कुछ भी आस्था नहीं रही। मेरी समझ ही में नहीं आता कि राज्य करने से, भोगों के पीछे दौड़ने से, लक्ष्मी का उपार्जन करने से, सुंदर स्त्रियों के सङ्ग से, मनुष्य को किस सुख की प्राप्ति होती है। रातदिन मैं देखता हूँ कि जिनको यह सब वस्तुएँ प्राप्त हैं वे भी महा दुखी हैं। संसार के भोगों से सुख की आशा करना भ्रम है, मृगतृष्णारूप है। इन्द्रियों के भोग विषैले सर्प के फण की नाईं दुखदायी हैं। मनुष्य को इस जीवन में कभी और कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। जीवन के पीछे क्या होता है हम नहीं जानते। हम कहाँ से आते हैं, कहाँ जाते हैं, कुछ मालूम नहीं है। यह संसार क्या है, क्यों है और इसका क्या अन्त है, हम कुछ नहीं जानते। मनुष्य को किसी अवस्था में चैन नहीं है। शैशवावस्था मोहपूर्ण और दुःखदायी है। युवा अवस्था स्त्री रूपी

जब कि रामचन्द्रजी शैशवावस्था को समाप्त करके युवावस्था में पदार्पण कर रहे थे, उनके मन में यह विचार उठा कि जीवन में क्या सार है, यहाँ मनुष्य सुखरूपी मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते दौड़ते अपना सारा जीवन बिता देते हैं, किन्तु किसी को दु:ख से रहित सुख की प्राप्ति नहीं होती। रात दिन संसार की उलझनों में फँसे रहते हैं और कभी शान्ति का अनुभव नहीं करते। उत्पन्न होते हैं और कुछ दिन जीवित रहकर मर जाते हैं। कोई भी नहीं जानता कि कहाँ से आते हैं और कहाँ जाते हैं। यह संसार क्यों बना, कैसे बना और कब बना? इससे छूटने का कोई उपाय है अथवा नहीं है? इत्यादि प्रश्न रामचन्द्रजी के मन में उठे और वे इनको सोचने में इतने लीन हो गए कि उनको अपने नित्य कर्मों और अपने खाने-पीने, शयन और विहार करने में किसी प्रकार की भी रुचि न रही। जड़ शिला की मूर्ति की नाईं दिन रात बैठे हुए सोचते रहते थे।

रामचन्द्रजी की यह दशा देखकर उनके नौकर-चाकरों ने बहुत ही घबराकर दरबार में आकर महाराज दशरथ के प्रति उनकी शोचनीय दशा का इस प्रकार वर्णन किया:—हे राजन्! कुँवर रामचन्द्रजी की दशा अत्यन्त ही शोचनीय हो गई है। हमारी समझ में ही नहीं आता कि उनको हो क्या गया है। बहुत बार याद दिलाने पर वे अपने नित्य कामों को करने में प्रवृत्त होते हैं, और उनको किसी प्रकार का उत्साह नहीं है। सदा ही खिन्न वदन रहते हैं। स्नान, देवार्चन, दान, भोजन आदि कभी करते हैं, कभी नहीं करते। जरा जरा सी बातों पर उनको क्रोध आ जाता है, क्योंकि जो कुछ भी उनको करना पड़ता है वे मन से नहीं करते। कोई भूषण उनको पसन्द नहीं आता। जो युवतियाँ उनको प्रसन्न करने के लिये उनके पास छोड़ी गई हैं, उनसे उनको बहुत ही घृणा होती है। उनको नाचते गाते और झूले में झूलते देखकर उनसे उनका द्वेष होता है। जितने सुन्दर, स्वादु और मनोहर पदार्थ हैं उनको देखकर वे नाक चढ़ा लेते हैं। सदा ही मौन रहते हैं। हास प्रहास से चिढ़ते हैं। एकान्त पसन्द करते हैं। यदि कभी उनको हम बोलते हुए सुनते हैं तो ऐसे शब्द हमारे कानों में पड़ते हैं:—सम्पत्ति से क्या! विपत्ति से क्या! घर बार से क्या! राग रङ्ग से क्या! सब कुछ व्यर्थ है; किसी वस्तु से परमानन्द नहीं मिलता। हम नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं।

किस चीज़ का ध्यान करते हैं। हम केवल यही जानते हैं कि वे प्रतिदिन कृश होते जाते हैं, पीले पड़ते जाते हैं, और ऐसे प्रभाहीन होते जा रहे हैं जैसे कि शरद ऋतु के अन्त में वृक्ष। उनकी हालत को देखकर उनके और भाई भी दुखी रहते हैं। माताओं को भी बड़ी चिन्ता लग रही है। हे राजन्, हम नहीं जानते कि उनके लिए क्या किया जाय। अतः आपको सूचित करने आए हैं।

राजा को रामचन्द्रजी की ऐसी दशा सुनकर बहुत शोक हुआ। राजसभा में विश्वामित्रजी, जो कि राजा दशरथ से अपनी यज्ञरक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को माँगने आए थे—और वसिष्ठजी जो कि उनके राजगुरु थे, बैठे हुए थे। यह सब बातें सुनकर और राजा को चिन्तित देखकर विश्वामित्रजी बोले—हे राजन्, यदि रामचन्द्रजी का ऐसा हाल है तो उनको यहाँ बुलवाओ—हम उनका दुःख निवृत्त करेंगे। वसिष्ठजी उनको ऐसा उपदेश देंगे कि उनका सब शोक निवृत्त हो जावेगा, और उनको तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होगी। और वे संसार में एक आदर्श पुरुष होकर अपने जीवन को इस प्रकार बितावेंगे कि संसार उनका अनुकरण करेगा।

यह सुनकर राजा दशरथ की चिन्ता कुछ कम हुई। उन्होंने रामचंद्रजी को बुलवा लिया। रामचन्द्र वहाँ आए और सबको यथायोग्य प्रणाम करके बैठ गए। वसिष्ठ और विश्वामित्र के पूछने पर उन्होंने अपने मन की व्यथा विस्तारपूर्वक सुनाई। संक्षेपतः उनका कथन यह था:—ज्यों ज्यों मेरी शैशावावस्था व्यतीत हो रही है मेरे मन में यह विचार दृढ़ होता जाता है कि संसार में कोई भी सार वस्तु नहीं है। जगत् में मुझे कुछ भी आस्था नहीं रही। मेरी समझ ही में नहीं आता कि राज्य करने से, भोगों के पीछे दौड़ने से, लक्ष्मी का उपार्जन करने से, सुंदर स्त्रियों के सङ्ग से, मनुष्य को किस सुख की प्राप्ति होती है। रातदिन मैं देखता हूँ कि जिनको यह सब वस्तुएँ प्राप्त हैं वे भी महा दुखी हैं। संसार के भोगों से सुख की आशा करना भ्रम है, मृगतृष्णारूप है। इन्द्रियों के भोग विषैले सर्प के फण की नाईं दुखदायी हैं। मनुष्य को इस जीवन में कभी और कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। जीवन के पीछे क्या होता है हम नहीं जानते। हम कहाँ से आते हैं, कहाँ जाते हैं, कुछ मालूम नहीं है। यह संसार क्या है, क्यों है, और इसका क्या अन्त है, हम कुछ नहीं जानते। मनुष्य को किसी अवस्था में चैन नहीं है। शैशावावस्था मोहपूर्ण और दुखदायी है। युवा अवस्था स्त्री रूपी

मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने में नष्ट हो जाती है। वृद्धावस्था में सब शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। काल सबको खा जाता है। तब फिर किस लिये मनुष्य संसार के पीछे दौड़ता रहता है? हे महान्, मुझे तो संसार की किसी भी वस्तु की वान्छा नहीं है। न मुझे इस जीवन से कुछ प्रेम है—क्योंकि मुझे इसमें कुछ भी सार नहीं दिखाई पड़ता। यदि आप जानते हों तो, कोई ऐसा मार्ग बताओ जिससे मुझे परम शान्ति और परम पद की प्राप्ति हो। मुझे आप वह मार्ग बताओ जिस पर चलने से मुझे संसार रूपी गड्ढे में न गिरना पड़े, जिससे मैं संसार में रहते हुए भी संसार के दुःखों में न फँसूँ। यदि आप मुझे कोई ऐसा उपाय नहीं बतलायेंगे, तो मैं स्वयं अपने आप ही सोच कर किसी ऐसे उपाय को ढूँढूँगा। और यदि मैं अपने निज के प्रयत्न से भी संसार से बाहर न हो सका और परम पद और सत्य की प्राप्ति न कर सका, तो, मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अन्न और जल का त्याग करके एक स्थान पर बैठ कर चिन्तन करते करते इस शरीर का त्याग कर दूँगा।

वसिष्ठ और विश्वामित्र रामचन्द्रजी की इस तीव्र जिज्ञासा को देख कर बहुत प्रसन्न हुए और वसिष्ठजी ने रामचन्द्र को उस तत्वज्ञान का उपदेश दिया जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। इस उपदेश को सुन कर रामचन्द्रजी को आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और वे जीवन्मुक्त हो कर परम आनन्द को प्राप्त हुए, और संसार में, जल में कमल की नाईं रह कर आदर्श पुरुष बने। रामचन्द्रजी के जीवन को आदर्श बनानेवाला वसिष्ठजी का उपदेश ही **योगवासिष्ठ** नामक ग्रंथ का विषय है।

३—शुक की कथा

श्रीरामचन्द्रजी का विवेक और वैराग्य और तत्त्वज्ञान के लिये उनकी तीव्र जिज्ञासा देख कर विश्वामित्र राम से बोले - हे राम! तुम तो तत्त्वज्ञान के योग्य अधिकारी हो, तुम को ज्ञान प्राप्त करने में कुछ भी आयास और समय नहीं लगेगा। तुम्हारा अज्ञान का परदा बहुत ही पतला हो गया है, वसिष्ठजी के उपदेश मात्र से ही तुम्हारा अज्ञान नष्ट होकर आत्मज्ञान का प्रकाश होगा, और तुम जीवन्मुक्त हो कर इस संसारमें जीवन व्यतीत करोगे। व्यास के पुत्र शुक की नाईं तुम ज्ञानके उत्तम अधिकारी हो और उनकी नाईं ही तुमको क्षण भर में ज्ञान हो जावेगा।

राम ने पूछा—हे मुने! शुक के ज्ञान प्राप्त होने की कथा आप मुझे सुनाइये।

विश्वामित्र बोले—

भगवान् व्यास के पुत्र शुक सब शास्त्रों में निपुण थे। एक समय उनके मनमें यह विचार आया कि मैंने सब कुछ पढ़ लिया, किन्तु अभी तक मुझे न परमानन्द का ही अनुभव हुआ और न यही मालूम हुआ कि यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ है और कैसे इसकी निवृत्ति होगी। यह सोच कर कि उनके पिता व्यासजी सर्वज्ञ हैं वे ही उनकी शङ्काओं की निवृत्ति करेंगे, शुक अपने पिता के पास गए और उनके सम्मुख उन्होंने अपनी जिज्ञासा प्रकट की। व्यासजी ने उनको कहा—पुत्र! मैं सर्वतत्त्वज्ञ नहीं हूँ, राजा जनक सर्वतत्त्वज्ञ हैं। तुम उनके पास जाओ। वे ही तुम्हारी शंकाओं की निवृत्ति करेंगे। शुकदेवजी पिता की आज्ञा पा कर मिथिला नगरी पहुँचे, और राजा जनक के द्वार पर आ कर उन्होंने द्वारपाल से राजा से मिलने का आशय प्रकट किया। द्वारपाल ने जा कर राजा से कहा कि द्वार पर शुकदेवजी खड़े हैं और आप से मिलना चाहते हैं। जनक समझ गए कि शुकदेवजी तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के निमित्त आए हैं। कुछ सोच कर उन्होंने कहा—खड़े रहने दो। शुकदेवजी सात दिन तक द्वार पर ही खड़े रहे। आठवें दिन राजा ने पूछा शुकदेवजी खड़े हैं या चले गए? द्वारपाल ने कहा—महाराज वे तो उसी प्रकार निश्चल और निस्तब्ध खड़े हैं जैसे कि आने वाले दिन थे। राजा ने कहा—उनको ले आओ और अन्तःपुर में रानियों और सुंदर स्त्रियों के मध्य में उनको रख कर उत्तम प्रकार के भोजन कराओ और सब प्रकार के भोग भुगवाओ। शुकदेवजी इस परिस्थिति में भी सात दिन रहे, किन्तु न उनको वहाँ रहने से हर्ष हुआ और न शोक। न किसी वस्तु से उनको घृणा हुई, और न किसी के लिये इच्छा। राजा को उनके व्यवहार की सब सूचना मिलती रही। आठवें दिन फिर राजा ने उनको अपने पास बुलवाया। शुकदेवजी ने जनक को आदर के साथ प्रणाम किया। जनक ने कहा—शुकदेवजी, आप किस लिये यहाँ पर आए हैं। शुकदेवजी बोले - राजन्, मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह संसार कैसे उत्पन्न होता है और किस आधार पर स्थित है और कैसे इसका क्षय होता है। क्या इससे बाहर निकल कर शान्त और निश्चल आनन्द में स्थित रहने का भी कोई उपाय है? राजा बोले, हे शुक! यह संसार अपने चित्त में ही उत्पन्न होता है और चित्त के निःसंकल्प, निर्द्वंद्व, अथवा निस्फुरण होने से क्षीण होता है। चित्त के संकल्प में इसकी स्थिति है। दृश्य

के लिये जब तक मन में वासना है तभी तक संसार का अनुभव होता है। वासना का सर्वथा क्षय होने से ही आत्मानुभव होकर परमानन्द में स्थिति होती है। यह सुनकर शुकदेवजी मिथिला से सुमेरु पर्वत पर चले गए और वहाँ जाकर निर्विकल्प समाधिका अनुभव करके निर्वाणपद में स्थित हुए।

४—वसिष्ठजीकी उत्पत्ति और ज्ञानप्राप्ति की कथा

शुकदेवजी की ज्ञानप्राप्ति की कथा सुनकर रामचन्द्रजी की तत्वज्ञान प्राप्ति की इच्छा और भी तीव्र हो गई। उन्होंने वसिष्ठजी से हाथ जोड़कर प्रार्थना की। वसिष्ठजी ने कहा! मैं तुमको आज उस पूर्ण ज्ञान का उपदेश देना आरम्भ करूँगा जो कि मुझे सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने दिया था। उसकी कथा इस प्रकार है—

जब कमलयोनि ब्रह्मा इस जगत् की सृष्टि कर चुके और संसार में मनुष्य कर्म के नियमानुसार सुखदुःख भँवर में फँस गए, तो उनको मनुष्यों की इस दीन दशा को देखकर बहुत करुणा उपजी। उन्होंने सोचा कि कोई ऐसा उपाय मनुष्यों को बताना चाहिए जिसके द्वारा वे इस संसार चक्र से निवृत्त होकर परमानन्द की प्राप्ति और अनुभव कर सकें। यह सोचकर उन्होंने तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ इत्यादि उपायों की रचना की, किन्तु उनको यही जान पड़ा कि इनमें से कोई उपाय ऐसा नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य निर्वाण नाम परम सुख की प्राप्ति कर सके। वे फिर सोचने लगे, और उनके ध्यान करते करते उनके संकल्प द्वारा उत्पन्न होकर अक्ष की माला और कमण्डलु धारण किए हुए एक सर्वज्ञ देहधारी मनुष्य उनके सामने खड़ा होकर उनको प्रणाम करने लगा। उनका यह मानसपुत्र मैं ही वसिष्ठ था। मुझे देखते ही ब्रह्मा बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु उनको यह अच्छा नहीं लगा कि मैं सर्वज्ञ था, क्योंकि मेरे सर्वज्ञ होने से मुझे अज्ञजनों के प्रति करुणा कैसे आती—जो अज्ञ रहकर सर्वज्ञता को प्राप्त होता है वही अज्ञजनों के दुःखों से अनुदुःखित हो सकता है—इसलिये मुझे उन्होंने शाप दिया कि कुछ काल के लिये मैं अज्ञ हो जाऊँ। मैं अज्ञ हो गया, और पिता ब्रह्मा से मैंने आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान देने की प्रार्थना की और कहा—हे भगवन्! इस महादुःखदायी संसाररूपी व्याधिकी औषधि बताओ। कैसे यह संसार उदय होता है और कैसे इसका क्षय होता है? ब्रह्माजी ने मुझे इन सब प्रश्नों का विस्तारपूर्वक उत्तर

दिया, और थोड़े ही समय में मुझे समस्त तत्वज्ञान प्राप्त हो गया। तब ब्रह्माजी ने मुझे यह आज्ञा दी कि मैं जम्बूद्वीप के भारतवर्ष नामक देश में जाकर वास करूँ, और संसार के लोगों के कल्याण के निमित्त इस तत्त्वज्ञान का प्रचार करूँ, जो कि मुझे ब्रह्मा ने दिया था, ताकि कुछ लोग जिनको संसार से विरक्ति हो गई है, आत्मज्ञान प्राप्त करके निर्वाण पद प्राप्त करें। मुझे आज्ञा मिली है कि जो पुरुष कर्मपरायण हैं और ससार के उत्तम उत्तम भोगों का भोग करना चाहते हैं, उनको मैं कर्मकाण्ड का मार्ग बतलाऊँ; और जो संसार से विरक्त हो गए हैं और संसार-समुद्र के पार निर्वाण पद में स्थित होना चाहते हैं उनको ज्ञान का मार्ग बतलाकर जीवन्मुक्त बनाऊँ। इस प्रकार हे राम! मैं परमपिता ब्रह्माजी का नियुक्त किया हुआ यहाँ पर स्थित हूँ। तुम ज्ञान के उत्तम अधिकारी हो, इसलिये तुम्हें मैं वह सम्पूर्ण ज्ञान जो कि पिता जी ने मुझे दिया था दूँगा। उसको सुनकर तुम परमानन्द को प्राप्त होगे और जीवन्मुक्त होकर संसार में विचरोगे।

५—आकाशज की कथा

रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी के सम्मुख अपने वैराग्य की दशा को वर्णन करते हुए संसार में मृत्यु के साम्राज्य का वर्णन किया था, और यह बतलाया था कि कोई पुरुष भी ऐसा नहीं है जिसको काल न खाता हो। वसिष्ठ ने सबसे पहिले रामचन्द्रजी को यही बतलाया कि मृत्यु केवल अज्ञानी जीव के लिये ही है जिसने कि अपने आप को मरणशील भौतिक देह ही मान रक्खा है। जो जीव वासनापूर्वक कर्म करता है वही मृत्यु का भाजन है क्योंकि उसको अपनी वासनाओं की पूर्ति करने और अपने कर्मों का फल भोगने के लिए ही दूसरी परिस्थितियों में जन्म लेना होता है। जो तत्वज्ञानी है, जिसके मनमें संसार के विषयों के लिये लेशमात्र भी वासना नहीं है, जो सकाम कर्म नहीं करता, अपने आपको सदा ही चिदाकाश में स्थित रखता है, और भौतिक शरीर का अभिमानी नहीं है, उसके लिए मृत्यु कोई चीज ही नहीं है। मृत्यु उसको स्पर्श करने में भी असमर्थ है। इस विषय में वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को आकाशज की कथा सुनाई जो इस प्रकार है:—

आकाशज नामक एक ब्राह्मण था। उसकी उत्पत्ति शुद्ध चिदाकाश से, *बिना किसी पूर्व कर्म किए, लीला मात्र से* हुई थी। उत्पन्न होकर भी वह सदा ही अपने चिदाकाश स्वरूप में

के लिये जब तक मन में वासना है तभी तक संसार का अनुभव होता है। वासना का सर्वथा क्षय होने से ही आत्मानुभव होकर परमानन्द में स्थिति होती है। यह सुनकर शुकदेवजी मिथिला से सुमेरु पर्वत पर चले गए और वहाँ जाकर निर्विकल्प समाधिका अनुभव करके निर्वाणपद में स्थित हुए।

४—वसिष्ठजीकी उत्पत्ति और ज्ञानप्राप्ति की कथा

शुकदेवजी की ज्ञानप्राप्ति की कथा सुनकर रामचन्द्रजी की तत्वज्ञान प्राप्ति की इच्छा और भी तीव्र हो गई। उन्होंने वसिष्ठजी से हाथ जोड़कर प्रार्थना की। वसिष्ठजी ने कहा! मैं तुमको आज उस पूर्ण ज्ञान का उपदेश देना आरम्भ करूंगा जो कि मुझे सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने दिया था। उसकी कथा इस प्रकार है.—

जब कमलयोनि ब्रह्मा इस जगत् की सृष्टि कर चुके और संसार में मनुष्य कर्म के नियमानुसार सुखदुःख भँवर में फँस गए, तो उनको मनुष्यों की इस दीन दशा को देखकर बहुत करुणा उपजी। उन्होंने सोचा कि कोई ऐसा उपाय मनुष्यों को बताना चाहिए जिसके द्वारा वे इस संसार चक्र से निवृत्त होकर परमानन्द की प्राप्ति और अनुभव कर सकें। यह सोचकर उन्होंने तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ इत्यादि उपायों की रचना की, किन्तु उनको यही जान पड़ा कि इनमें से कोई उपाय ऐसा नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य निर्वाण नाम परम सुख की प्राप्ति कर सके। वे फिर सोचने लगे, और उनके ध्यान करते करते उनके संकल्प द्वारा उत्पन्न होकर अक्ष की माला और कमण्डलु धारण किए हुए एक सर्वज्ञ देहधारी मनुष्य उनके सामने खड़ा होकर उनको प्रणाम करने लगा। उनका वह मानसपुत्र मैं ही वसिष्ठ था। मुझे देखते ही ब्रह्मा बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु उनको यह अच्छा नहीं लगा कि मैं सर्वज्ञ था, क्योंकि मेरे सर्वज्ञ होने से मुझे अज्ञजनों के प्रति करुणा कैसे आती—जो अज्ञ रहकर सर्वज्ञता को प्राप्त होता है वही अज्ञजनों के दुःखों से अनुदुःखित हो सकता है—इसलिये मुझे उन्होंने शाप दिया कि कुछ काल के लिये मैं अज्ञ हो जाऊँ। मैं अज्ञ हो गया, और पिता ब्रह्मा से मैंने आत्मज्ञान और तत्वज्ञान देने की प्रार्थना की और कहा—हे भगवन! इस महादुःखदायी संसाररूपी व्याधिकी औषधि बताओ। कैसे यह संसार उदय होता है और कैसे इसका क्षय होता है? ब्रह्माजी ने मुझे इन सब प्रश्नों का विस्तारपूर्वक उत्तर

उपाख्यानों में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्र को बहुत सी गूढ़ और विचित्र बातों का उपदेश दिया है। मृत्यु क्या है? मृत्यु के पीछे क्या होता है? सृष्टि के भीतर सृष्टि और उसके भीतर भी सृष्टि-प्रकार अनन्त सृष्टियों के होने का वृत्तान्त, वासना के अनुसार आगामी जीवन का बनना-इत्यादि अनेक रहस्यों का इस उपाख्यान में वर्णन है। उपाख्यान बहुत बड़ा है। प्रत्येक पाठक को यह उपाख्यान योगवासिष्ठ में से पढ़ना चाहिए। यहाँ पर हम इसका बहुत संक्षेप से ही वर्णन कर सकते हैं।

पृथ्वीमण्डल पर किसी समय पद्म नाम का एक राजा राज्य करता था। वह बहुत ही योग्य और सर्व गुण सम्पन्न था। उसके अनुरूप गुणशीलवाली उसकी रानी थी, जिसका नाम लीला था। लीला अपने स्वामी में बहुत अनुरक्त थी और कल्पना में भी कभी उससे जुदा होकर रहना नहीं चाहती थी। वह यही चाहती रहती थी कि उसका स्वामी सदा जीवित रहे, कभी उसकी मृत्यु न हो। लीला ने अपने नगर के सर्वोत्तम पण्डितों को बुलाकर यह पूछा कि कौन सा उपाय ऐसा है जिससे मनुष्य मृत्यु के मुख में न जाए। विद्वानों ने कहा—हे देवि! कोई उपाय ऐसा नहीं है जिससे संसारी मनुष्य उत्पन्न होकर मरे नहीं; जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही नाश को प्राप्त होता है। लीला निराश होकर सरस्वती देवी की उपासना करने लग गई। सरस्वती ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। लीला ने सरस्वती से यह वर माँगा कि यदि उसके स्वामी की मृत्यु उससे पहिले हो जाए तो उनका जीव उसके कमरे में ही रहे, उससे बाहर न जाने पाए। सरस्वती देवी यह वर देकर और यह कहकर कि जब लीला उसको याद करेगी वह प्रकट हो जाया करेगी, अन्तर्धान हो गई। समय आने पर पद्म की मृत्यु हो गई। लीला बहुत दुखी और शोकातुर होकर रोने लगी। एक आकाशवाणी ने उसको बतलाया कि घबराने की ज़रूरत नहीं है, राजा का जीव उसके कमरे में ही मौजूद है। राजा के शव को यथाविधि उस समय तक सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिए जब तक कि वह उनके प्राण लौटने पर पुनर्जीवित न हो जाए। लीला को यह आकाशवाणी सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सरस्वती का ध्यान किया, और सरस्वती देवी अपने वचन के अनुसार आ उपस्थित हुई। लीला ने देवी से पूछा

स्थित रहता था, किसी विषय के लिये उसके हृदय में वासना नहीं थी, और न वह किसी कामना से प्रेरित होकर कोई कर्म करता था। इस प्रकार का जीवन बिताते हुए उसको जब बहुत समय बीत गया तो मृत्यु को खयाल आया कि यह ब्राह्मण बहुत समय से जीवित है, अभी तक मरा नहीं, इसको अब मारना चाहिए। मृत्यु ने उसको मारने का बारंबार प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रही। अपने को अपने नित्य के धर्म का पालन करने में इतना असमर्थ पाकर मौत को आश्चर्य, खेद, और क्रोध, सभी कुछ हुआ। जब अपनी असफलता का कारण मृत्यु की समझ में न आया, तो वह अपने स्वामी यमराज के पास पहुँची, और उनके प्रति अपने विनय और अपनी असफलता का हाल कहा। उसको सुनकर यमराज बोले—हे मौत, तू तो निमित्तमात्र है। तू किसी को नहीं मार सकती, केवल प्राणियों के कर्म ही उनको मारते हैं। जिसने वासनात्मक कर्म किए हैं वही तुम्हारा शिकार होता है। जाओ, आकाशज ब्राह्मण के कर्मों की तलाश करो। यदि तुमको उसका कोई भी कामनापूर्वक किया हुआ कर्म मिल गया, तो तुम उसको मारने में समर्थ हो सकोगी, अन्यथा नहीं। मौत ने खुफिया पुलिस की नई ब्राह्मण के साथ गुप्त रूपसे रहकर उसके जीवन का भी निरीक्षण किया, और उसके पूर्व कालीन जीवन का भी भलीभाँति हाल जाना, किन्तु उसको आकाशज ब्राह्मण के जीवन में एक भी वासनात्मक कर्म नहीं मिला। उसकी स्थिति सदा ही आत्मभाव में रहती थी। किसी विषय के प्रति उसकी वासना नहीं थी। उसके चित्त में कोई भी ऐसी कामना नहीं थी जिसकी सिद्धि के लिए वह कोई कर्म करता हो। उसके सारे काम स्वभाव-प्रेरित थे। वह संसार की किसी वस्तु और प्राणी को भी अपने से भिन्न और बाहर नहीं समझता था। उसको क्षणभंगुर देह और मनके साथ आत्मत्व का अभिमान नहीं होता था। अब मृत्यु की समझ में आ गया कि आकाशज का जीवन क्यों उसके काबू से बाहर है। वह यमराज के पास गई और उनसे यह बोली कि जो आप कहते थे ठीक निकला। मैं किसी को नहीं मारती। प्राणियों के कर्म ही उनको मारते हैं।

५—लीला का उपाख्यान

लीला का उपाख्यान योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ और सबसे लम्बे

र रहे हैं। लीला को यह बात सुनकर वह स्थान देखनेकी बहुत सुकता हुई। सरस्वती लीला को उस सृष्टि में ले गई।

वहाँ पर जाकर लीला ने वह झोपड़ी देखी जिसमें कि ब्राह्मण सिष्ठ और उनकी पत्नी अरुन्धती रहते थे। एक दिन वसिष्ठ ने एक जा की सवारी बड़े ठाठबाट के साथ निकलती देखी। उसको देखकर नके मन में एक तीव्र वासना उस सुख और वैभव को भोगने की ई जो कि राजाओं को प्राप्त होता है। उसी दिन ब्राह्मण का शरीर ट गया। अरुन्धती ने भी यह वर माँग रक्खा था कि यदि ब्राह्मण सुसे पहिले मर जाय तो उसका जीव उसकी झोपड़ी से बाहर न ाने पाए, और सदा उसका और उसके पति का साथ रहे। ब्राह्मण के रने पर उसकी पत्नी को बहुत दुख हुआ और उसकी चिता पर ठकर वह सती हो गई। सरस्वती ने लीला से कहा कि यह सब त्तांत केवल एक सप्ताह व्यतीत हुए हुआ था। यह ब्राह्मण तुम्हारे ति पद्म के रूप में और ब्राह्मणी तुम्हारे रूप में इस सृष्टि में राज्य का ख भोगने के लिये उत्पन्न हुए थे। तुम दोनों का जीव उस कुटिया से ाहर नहीं गया। लीला को बहुत आश्चर्य हुआ और यह जानने की त्सुकता बढ़ी कि वह उससे पहिले के जन्मों में क्या थी और कहाँ ी। सरस्वती की सहायता से उसको अपने सब पूर्व जन्मों का ान उदय हो गया।

अब सरस्वती और लीला दोनो उस लोक में लौटीं जहाँ पर पद्म विदूरथ राजा के रूप में राज्य कर रहा था। उनको यह देखकर बहुत विस्मय हुआ कि अब राजा विदूरथ ७० वर्ष की अवस्था के दिखाई ते हैं। उसकी वर्तमान स्त्री का नाम भी लीला है। क्योंकि वह लीला ो बहुत चाहता था, इसलिये उसको इस जन्म में भी लीला ही मिली। लीला और सरस्वती राजा विदूरथ के एकान्तवास के समय उनके सामने गट हुई और उनको उनके पूर्व जन्म के पद्मरूप की याद दिलाई। विदूरथ के चित्त में पद्म होने की वासना उदय हो आई। इसी समय दूसरी लीला ने भी सरस्वती देवी से यह वर माँग लिया था कि अगले जन्म में वह अपने पति की पत्नी बने। कुछ समय के पीछे विदूरथ के राज्य पर बाहर से आक्रमण होने लगे और एक बड़ा संग्राम छिड़ गया। इस संग्राम में राजा विदूरथ मारा गया। उसका जीव जो कि लीला के कमरे से कभी बाहर नहीं गया था, वहाँ पर सुरक्षित पड़े हुए

कि उसके स्वामी अब कहाँ हैं। देवी ने कहा कि वे इसी कमरे में हैं, किन्तु दूसरी सृष्टि में हैं, जो कि इस सृष्टि से सूक्ष्म है और जो इसके भीतर है। लीला को सरस्वती ने बतलाया कि एक जगत के भीतर दूसरा जगत और उसके भीतर एक तीसरा जगत—इस प्रकार यह सिलसिला अनंत तक जारी है। एक सृष्टि दूसरी सृष्टिवाले जीवों के लिये शून्य है। लेकिन यदि कोई जीव दूसरी सृष्टि के व्यवहार को देखना चाहे तो इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। लीला यह सुनकर अपने पति को उसकी वर्त्तमान सृष्टि में देखने को बहुत उत्सुक हो गई। यह देखकर सरस्वती देवी ने उसको वह रीति बतलाई जिसके द्वारा वह दूसरी और सूक्ष्मतर सृष्टियों में प्रवेश और वहाँ होनेवाले व्यवहारों का निरीक्षण कर सके।

तब सरस्वती और लीला दोनों ने उस लोक में प्रवेश किया जिसमें कि पद्म उस समय अपने वासनायुक्त पूर्व कर्मों का भोग कर रहा था। पद्म को मरे हुए इस सृष्टि में कुछ क्षण ही हुए थे, किन्तु जिस सृष्टि में वह उस समय था जब कि लीला और सरस्वती उसको देखती हैं, वहाँ पर वह एक १६ वर्ष की अवस्था का राजा बना हुआ एक विशाल राज्य पर राज कर रहा था।

लीला को यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि इतने थोड़े समय में १६ वर्ष कैसे व्यतीत हो गए और उसके कमरे के भीतर ही सारी सृष्टि और बहुत बड़ा साम्राज्य कैसे दिखाई देता है। सरस्वती ने लीला को समझाया कि देश और काल के अणु अणु के भीतर महान् महान् जगत् हैं, और सारे जगतों के देश और काल का हिसाब एक ही नहीं है। जो घटना एक सृष्टि के एक क्षण में हो जाती है वह दूसरी के एक कल्प में होती है। जिस प्रकार मनुष्य अपने बिस्तर पर पड़ा हुआ एक क्षण में सालों तक होनेवाले स्वप्न के व्यवहारों का एक अनन्त संसारक्षेत्र में अनुभव कर लेता है उसी प्रकार सब सृष्टियों का हाल है। सरस्वती ने लीला से कहा—इसमें तुमको क्या आश्चर्य होता है, इससे अधिक आश्चर्य की तो यह बात है कि कुल एक सप्ताह भी नहीं व्यतीत हुआ कि तुम्हारे स्वामी पद्म बनने से पहिले एक ब्राह्मण थे और तुम उनकी पत्नी थी। यदि तुमको विश्वास न हो तो आओ मैं तुमको दिखलाती हूँ कि उस ब्राह्मण दम्पति की कुटिया अब खाली पड़ी है और उसके लड़के बाले अभी उसकी मृत्यु का शोक

मूढ़ है और कौन ज्ञानी है प्रश्नों की एक सूची तैयार की। जो जीव उसे मिलता वर्सा से वह प्रश्न करती थी। उत्तर न पाने पर उसको भक्षण कर जाती थी। ऐसा करते करते जब उसको कुछ समय हो गया तो एक दिन उसको एक वन में सैर करता हुआ एक किरात राजा दिखाई पड़ा। वह दौड़कर राजा के पास आई और उससे उसने अपने सब प्रश्न पूछे। राजा महाज्ञानी था। उसने उसके सब प्रश्नों का संतोषजनक और यथोचित उत्तर दे दिया। इसलिये उसने राजा को खाने से छोड़ दिया और उससे मित्रता करना और उसके संग रहना चाहा। राजा की आज्ञा से उसने अपना कुरूप वेष त्याग कर सुन्दर शरीर धारण किया और सुन्दर वस्त्र और भूषणों से अलंकृत होकर वह राजमहल में रहने लगी। राजा के राज्य में जो लोग पाप और अधर्म करते थे और जिनको राजदरबार से मृत्युदण्ड मिलता था, वे उसको खाने के लिये दिये जाते थे। इस प्रकार वह कुछ दिन शान्ति से जीवन बिताकर उत्तम गति को प्राप्त हुई।

८. इन्दु ब्राह्मण के लड़कों की कथा

जीव केवल संकल्पमय है। जो संकल्प इसके हृदय में दृढ़ हो जाता है वह ही वह आकार धारण कर लेता है। संकल्पमय चित्त जिस प्रकार के जगत् की कल्पना करता है, वैसा ही समस्त जगत् क्षण में निर्मित हो जाता है। सारा ब्रह्माण्ड मन की ही कल्पना है, और प्रत्येक मन में जगत के रचने की सामर्थ्य है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादन करते हुए वसिष्ठजीने रामचन्द्रजी को ब्रह्मा के मुख द्वारा सुनी हुई इन्दु ब्राह्मण के लड़कों की कथा, जो संक्षेपतः इस प्रकार है, सुनाई:—

एक समय की बात है कि जगत्स्रष्टा ब्रह्मा अपनी महाप्रलय की निद्रा से जागकर जब नई सृष्टि की रचना करने को ही थे तो उनको मालूम पड़ा कि सृष्टि तो पहिले से रची हुई है। उनको बहुत ही आश्चर्य हुआ। जो सृष्टि उनको दिखाई पड़ी उसके सूर्य से उन्होंने पूछा कि यह सृष्टि मेरे रचने से पहले ही कहाँ से आ गई। सूर्य ने कहा, हे देव, एक ही सृष्टि नहीं, ऐसी ऐसी दस सृष्टियाँ आप के रचे बिना ही रची गई हैं। ब्रह्मा ने विस्मय के साथ पूछा कि इनके रचनेवाले कौन हैं? सूर्य देव ने कहा—

भगवन्, आपकी पूर्वरचित सृष्टि में कैलाश पर्वत के नीचे जो जम्बूद्वीप था उसमें स्वर्णजट नाम का एक प्रान्त था। वहाँ पर इन्दु

शव में प्रविष्ट हो गया, और पद्म नामक देह जाग उठी। पद्म ने उठते ही अपनी पुरानी दुनिया का अनुभव किया और अपने सामने दोनों लीलाओं को, जिनमें उसकी वासना थी, खड़े हुए पाया। अपनी दोनों पत्नियों के साथ सुख से फिर कुछ काल तक पद्म ने जीवन व्यतीत किया।

वसिष्ठ ने रामचन्द्र से कहा कि जो कुछ हमारे जीवन में होता है सब हमारी वासनाओं के अनुसार ही होता है। जीवन-मरण, साथी-सङ्गी, लोक-लोकान्तर सब हमारी वासनाओं के बनाए बनते हैं।

७—कर्कटी राक्षसी की कहानी

मूर्ख लोग दुःख भोगने और मरने के लिये ही जीते हैं। जिसने अपने आत्मा को नहीं जाना, उस मूर्ख का जीवन ही मृत्यु है। ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि से यह नियम बना रक्खा है कि हिंस्र जीवों (दरिन्दों) के भक्षण के लिए मूढ़ प्राणी हैं, आत्मज्ञानी जन नहीं हैं। संसार में जो उदार गुणों वाले देहधारी हैं, वे इस पृथ्वीतल पर वर्त्तमान चन्द्रमा हैं; वे अपने सङ्ग से सबको शीतलता प्रदान करते हैं। सारे गुणों से उत्तम गुण अध्यात्मविद्या है; उसको जानने से ही राजा राजा होता है और मन्त्री मन्त्री होता है; अन्यथा नहीं।

इन सिद्धान्तों को समझाने के लिये श्री वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को कर्कटी (विपूचिका) का उपाख्यान सुनाया, जो संक्षेपतः इस प्रकार है। हिमालय पहाड़ की उत्तरीय घाटी में कर्कटी नाम की एक राक्षसी रहती थी। वह अन्य जीवों को खाकर अपना पेट भरती थी। किन्तु बहुत दीर्घकाय होने के कारण सदा ही भूखी रहती थी। इसलिये उसने उग्र तपस्या की और ब्रह्मा को प्रसन्न करके यह वर माँगा कि उसका आकार सूई के समान हो जाय। ब्रह्मा ने एवमस्तु कहा और तभी से कर्कटी का आकार सूचि के समान हो गया और उसका नाम अब विपूचिका पड़ा। उसने इस विपूचिका रूप से बहुत से जीवों का हनन किया। किंतु उसको रह रहकर यह पछतावा होता था कि बहुत बड़े बड़े जन्तुओं को मारने पर भी उसके शरीर में केवल एक छोटी-सी बूँद खून जाता था। उसने फिर तपस्या की और ब्रह्मा को प्रसन्न करके यह वर माँगा कि उसका शरीर फिर उतना ही बड़ा हो जाए जितना कि पहले था। ब्रह्मा ने यह वर देने से पहले उससे यह वादा करा लिया कि वह केवल मूढ़ जीवों को ही मारकर अपना पेट भरेगी, ज्ञानी को कुछ नहीं कहेगी। कर्कटी ने यह मालूम करने के लिए कि कौन जीव

दूसरे से मिलने की सदा ही चाह रहती थी। रानी जब कभी अवसर पाती इन्द्र को बुला लेती और उसके साथ आनन्द से समय बिताती। यह बात धीरे धीरे राजा को भी मालूम हो गई। राजा ने उन दोनों का विच्छेद कराने का यथाशक्ति यत्न किया किन्तु असफल रहा। उसने उन दोनों को हर एक प्रकार का शारीरिक दुःख दिया—मस्त हाथी के पैरों में डलवा दिया, कोड़ों से पिटवाया, अन्न-जल न मिलने दिया—पर उन दोनों का ध्यान एक दूसरे पर इतना लगा हुआ था कि शरीर के कड़े से कड़े दुःख का उनको भान नहीं हुआ।

इन्द्र ने राजा से कहा कि मेरा जगत तो अहिल्यामय है। आपने जो सैकड़ों दुःख मुझे दिए हैं वे मुझे मालूम ही नहीं पड़े। और अहिल्या का जगत् मन्मय है अर्थात् वह सब जगह मुझे ही देखती है, इसलिये उसको भी किसी दूसरे के दुःख देने से जरा भी दुःख नहीं मालूम होता।

राजा को बहुत खेद हुआ क्योंकि वह उन दोनों को सब प्रकार का कष्ट देने पर भी उनको एक दूसरे के मन से दूर न करा सका। तब राजा ने भरत नाम के मुनि के पास जा कर और सब हाल कह कर उनसे यह प्रार्थना की कि वे उन दोनों को शाप दें। भरत ने उनको शाप दिया कि वे नष्ट हो जाएँ। उन दोनों ने भरत और राजा से कहा—इस शाप से हमारा कुछ नहीं बिगड़ता। ज्यादा से ज्यादा यह शाप हमारे शरीर ही को नष्ट कर देगा। शरीर की तो हमें कुछ सुध बुध ही नहीं। हमारे मनों को जो एक दूसरे के ध्यान में अचल हैं शाप नष्ट नहीं कर सकता। ये दोनों मन जहाँ भी रहेंगे शरीरों की पुनः रचना कर लेंगे।

दोनों शरीर शाप के कारण भूमि पर सूखे वृक्षों की नाईं गिर पड़े। दोनों मृग योनि में पैदा हो कर एक दूसरे से प्रेम करते रहे। इसके पीछे दोनों पक्षी हो कर एक दूसरे में रत रहे। फिर दोनों ब्राह्मण दम्पति के रूप में आए। इसके पीछे भी उनके अनेक जन्म हो चुके हैं लेकिन हर जन्म में वे एक दूसरे को प्रेम करते हैं।

१०—चित्तोपाख्यान

संसार के जितने सुख-दुःख हैं वे सब चित्त के अधीन हैं। बन्ध और मोक्ष भी चित्त की ही अवस्थाएं हैं। जो चित्त वासनाओं की पूर्ति के लिये इधर उधर दौड़ता रहता है उसको कभी चैन नहीं मिलती, जिसने वासनाओं से निर्मुक्ति पा ली है वही चित्त शुद्ध ब्रह्म

नाम का एक बहुत पवित्र ब्राह्मण और उसकी सुयोग्य पत्नी वास करते थे। उनके यहाँ जब बहुत काल तक कोई सन्तान न हुई तो उन्होंने तप करके शिवजी महाराज से वर पाया कि उनके यहाँ १० महामना बालक होंगे। ऐसा ही हुआ। कुछ काल जीकर वह ब्राह्मण मर गया। पुत्रों को उसके मरने का बहुत दुःख हुआ। सबने इकट्ठा होकर यह सोचा कि पिताजी की यादगार कायम रखने के लिये कोई ऐसा बड़ा काम करना चाहिए जो आजतक किसी मनुष्य ने न किया हो। सोचते सोचते वे इस प्रस्ताव पर आए कि इन दसों को १० ब्रह्मा बनकर दस सृष्टियों की रचना करनी चाहिए। यह धारणा करके वे लोग पद्मासन जमाकर समाधि में बैठकर यह संकल्प करने लगे कि वे ब्रह्मा हैं और सृष्टि की उत्पत्ति कर सकते हैं। यथोचित समय बीतने पर वह संकल्प दृढ़ हो गया और १० सृष्टियों की रचना हो गई।

यह सृष्टियाँ तब तक क़ायम रहीं जब तक कि इनके संकल्प की शक्ति क्षीण न हुई।

९. अहिल्या रानी और उसके प्रियतम इन्द्र की कहानी

मन के किसी वस्तु पर स्थिर हो जाने में कितना आनन्द है और स्थिर चित्त वाले प्रेमी को शरीर के दुःखों का किस प्रकार भान नहीं होता यह बात अहिल्या और इन्द्र की कथा से जाहिर है। कथा संक्षेप से इस प्रकार है:—

मगध देश में इन्द्रद्युम्न नाम का एक बड़ा प्रतापी राजा था उसकी स्त्री अहिल्या, बहुत रूपवती थी। उसी नगर में इन्द्र नाम एक अत्यन्त बुद्धिमान् ब्राह्मण-कुमार रहता था। रानी ने उस ब्राह्मण कुमार की प्रशंसा सुनकर उसको देखना चाहा। किसी सखी द्वारा ब्राह्मण-कुमार इन्द्र के दर्शन कराए जाने पर वह उसकी परम अनुरागिणी बन गई, और यह चाहने लगी कि इन्द्र उसका होकर उसके ही साथ रहे। वह उसमें इतनी अनुरक्त हो गई कि सारे जगत को वह तन्मय ही देखने लगी—"तत्तत्तदनुरक्ता सा पश्यन्ती तन्मयं जगत्"—किसी प्रकार से उसने अपने पास इन्द्र को बुलाया और उससे अपने हृदय का प्रेम प्रकट किया। इन्द्र भी रानी में अनुरक्त हो गया, और सारे संसार को भूलकर उसी के ध्यान में रहने लगा।

अहिल्या को इन्द्र का ध्यान करने में और इन्द्र को अहिल्या का ध्यान करने में अलौकिक आनन्द का अनुभव होता था, और एक व

यत्न करने पर मैंने उसको अपने सामने बुलाया और एक दृष्टि उसके ऊपर डाली। देखते देखते ही उसके सहस्रों हाथ और नेत्र क्षीण होने लगे। थोड़े ही समय में उसका सारा शरीर छिन्न भिन्न हो गया और वह मेरे हृदय में प्रविष्ट हो कर शान्त हो गया। मैंने तो यह जाना था कि उस वन में ऐसा उन्मत्त पुरुष एक ही था और उसको मेरा दर्शन होते ही मुक्ति मिल गई। लेकिन फिर मुझे ऐसे पुरुष उस वन में बहुत से मिले। जो जो मेरे सन्मुख आए वे सब शान्त हो गए और जिन्होंने मुझसे मुंह छिपाया वे अभी तक उसी प्रकार भ्रमण कर रहे हैं।

रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से पूछा—हे महान्! वह वन कहाँ है और वह पुरुष कौन है? वसिष्ठजी बोले! हे रामजी! वह वन यह संसार है और वह मत्त पुरुष मन है। सहस्रों नेत्र और हाथ मन की अनन्त वासनाएँ हैं। वह अन्धकूप गृहस्थ है, करञ्जवे का कुञ्ज नरक है और कदली वन स्वर्ग है। मैं जिसके सम्मुख होता हूँ वह मन शान्त और मुक्त हो जाता है। मैं विवेक हूँ। विचार और विवेक द्वारा ही मन असनीभाव को प्राप्त होकर निर्वाण और परमानन्द की प्राप्ति करता है।

११—बालाख्यायिका

जो कुछ दृश्य संसार है वह सब केवल दृष्टि मात्र है। कल्पना और भ्रम से अधिक इसकी सत्ता नहीं है। शून्य ब्रह्म की भित्ति पर मनरूपी चित्रकार ने ये सब चित्र बना रक्खे हैं। मन की कल्पना के अतिरिक्त इसमें कुछ भी सार नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न में रचे हुए जगत् में कल्पना के सिवाय और कुछ भी नहीं है उस प्रकार ही इस संसार की स्थिति है। वस्तुत: तो जगत् है ही नहीं—मन ने अपने भीतर ही इसकी कल्पना कर रक्खी है, और उस कल्पना के वश होकर वह अपने आपको इतना भूल गया है कि उसको दृश्य पदार्थ ही सार और वास्तविक जान पड़ते हैं। यह ऐसे ही होता है जैसे कि कोई बालक सर्वथा मिथ्या कहानी को सुनकर उसको सच समझ कर उसमें सुख और दुःख का अनुभव करने लगता है। इस विषय को समझाने के लिये वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को एक वह कहानी सुनाई जो किसी दाई ने एक बालक को सुनाई थी, और बालक ने उसको सच्ची बात मान ली थी। वह कहानी इस प्रकार है—

एक शून्य नाम का नगर है। उसमें तीन राजपुत्र रहते थे, जिनमें से दो तो अभी पैदा ही नहीं हुए थे और एक गर्भ में भी नहीं आया था।

बन जाता है, और अनुपम परमानन्द का अनुभव करता है—इन बातों को समझाते समय वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को चित्तोपाख्यान (चित्त की कहानी) सुनाया, जो इस प्रकार है :—

हे राम! एक बहुत बड़ा, शान्त और भयानक वन है। एक समय उसमें विचरते हुए मैंने एक विचित्र पुरुष देखा। वह पुरुष बहुत बड़े शरीर वाला, सहस्रों आखों और हाथों वाला था। उसकी कियाएँ पागल की क्रियाओं की नाईं देख पड़ती थीं। वह कभी इधर दौड़ता था, कभी उधर; कभी रोता था, कभी हँसता था; कभी नाचता था, कभी शोकातुर हो कर गिर पड़ता था। उसकी सहस्रों आखें उसको सहस्रों विषयों का दर्शन कराती थीं, जिनकी प्राप्ति के लिये वह अधीर हो कर चारों ओर दौड़ता रहता था, और किसी एक विषय पर स्थिर मति हो कर उसका आस्वादन नहीं कर पाता था। किसी विषय की प्राप्ति न होने पर अथवा उस विषय से वह आनन्द प्राप्त न होने पर जिसकी कि वह उस विषय से आशा करता था, वह इतना क्रुद्ध हो जाता था कि वह अपने सहस्रों हाथों से अपनी देह को खूब जोर से पीटने लगता था। ऐसा करते करते वह इतना भयभीत हो जाता था कि वह अपने को सुरक्षित रखने के लिये किसी एकान्त और घने कुञ्ज की शरण लेने के लिये उत्सुक होता था। किन्तु रोते-रोते उसकी दृष्टि और विवेक बुद्धि इतनी मन्द पड़ जाती थी कि वह अन्धे की नाईं करञ्जुवे के घने कुञ्ज में प्रवेश करके उसके कांटों से विदीर्ण होता था और चिल्लाने लगता था। उसके शरीर में इतनी वेदना होती थी कि उसको मिटाने के लिए वह एक कुएँ में कूद पड़ता था। वह कुआँ अन्धेरे और विषैले जन्तुओं से भरा हुआ था और उसमें से नाक को दुःख देने वाली दुर्गन्ध आती थी। रात भर उसमें किसी तरह रह कर प्रातःकाल फिर वह उस कूप से बाहर निकल कर अपने बेचैन जीवन का आरम्भ करता था। घूमते फिरते कभी कभी उसको केले का शीतल और सुगन्धित वन मिल जाता था जिसमें वह घड़ी दो घड़ी विश्राम और भर पेट भोजन पा लेता था। लेकिन वहां पर भी उसको शान्ति नहीं मिलती थी। वहां से भाग कर फिर इधर उधर मारा मारा फिरता था। मैंने यह भी विचित्र बात देखी कि मेरे यत्न करने पर भी वह मेरे सम्मुख नहीं होता था। हर समय वह मेरी निगाह से बच कर चलता था। एक समय ऐसा हुआ कि बहुत

यत्न करने पर मैंने उसको अपने सामने बुलाया और एक दृष्टि उसके ऊपर डाली। देखते देखते ही उसके सहस्त्रों हाथ और नेत्र क्षीण होने लगे। थोड़े ही समय में उसका सारा शरीर छिन्न भिन्न हो गया और वह मेरे हृदय में प्रविष्ट हो कर शान्त हो गया। मैंने तो यह जाना था कि उस वन में ऐसा उन्मत्त पुरुष एक ही था और उसको मेरा दर्शन होते ही मुक्ति मिल गई। लेकिन फिर मुझे ऐसे पुरुष उस वन में बहुत से मिले। जो जो मेरे सन्मुख आए वे सब शान्त हो गए और जिन्होंने मुझसे मुंह छिपाया वे अभी तक उसी प्रकार भ्रमण कर रहे हैं।

रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से पूछा—हे ब्रह्मन्! वह वन कहाँ है और वह पुरुष कौन है? वसिष्ठजी बोले! हे रामजी! वह वन यह संसार है और वह मत्त पुरुष मन है। सहस्त्रों नेत्र और हाथ मन की अनन्त वासनाएँ हैं। वह अन्धकूप गृहस्थ है, करञ्जवे का कुञ्ज नरक है और कदली वन स्वर्ग है। मैं जिसके सम्मुख होता हूँ वह मन शान्त और मुक्त हो जाता है। मैं विवेक हूँ। विचार और विवेक द्वारा ही मन अमनीभाव को प्राप्त होकर निर्वाण और परमानन्द की प्राप्ति करता है।

११—बालाख्यायिका

जो कुछ दृश्य संसार है वह सब केवल दृष्टि मात्र है। कल्पना और भ्रम से अधिक इसकी सत्ता नहीं है। शून्य ब्रह्म की भित्ति पर मनरूपी चित्रकार ने ये सब चित्र बना रक्खे हैं। मन की कल्पना के अतिरिक्त इसमें कुछ भी सार नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न में रचे हुए जगत् में कल्पना के सिवाय और कुछ भी नहीं है उस प्रकार ही इस संसार की स्थिति है। वस्तुतः तो जगत् है ही नहीं—मन ने अपने भीतर ही इसकी कल्पना कर रक्खी है, और उस कल्पना के वश होकर वह अपने आपको इतना भूल गया है कि उसको दृश्य पदार्थ ही सार और वास्तविक जान पड़ते हैं। यह ऐसे ही होता है जैसे कि कोई बालक सर्वथा मिथ्या कहानी को सुनकर उसको सच समझकर उसमें सुख और दुःख का अनुभव करने लगता है। इस विषय को समझाने के लिये वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को एक वह कहानी सुनाई जो किसी दाई ने एक बालक को सुनाई थी, और बालक ने उसको सची बात मान ली थी। वह कहानी इस प्रकार है—

एक शून्य नाम का नगर है। उसमें तीन राजपुत्र रहते थे, जिनमें से दो तो अभी पैदा ही नहीं हुए थे और एक गर्भ में भी नहीं आया था।

वे विपत्ति में पड़ने के कारण दुःखी होकर सोचने लगे और उन्होंने यह निश्चय किया कि बाहर जाकर धनोपार्जन किया जाए। बाहर जाकर मार्ग में उनको बहुत कष्ट हुआ और मार्ग में चलते चलते थककर भूख और प्यास से तंग होकर वे एक तीन वृक्षों के कुंज की छाया में जा बैठे। वे तीन वृक्ष ऐसे थे जिनमें से दो तो उपजे ही नहीं थे और एक का बीज भी नहीं बोया गया था। वहाँ पर बैठ कर उन्होंने विश्राम किया और अमृत के समान सुस्वादु फलों का भक्षण किया। थोड़ी देर बाद वहाँ से उठकर वे आगे बढ़े और बहुत सुन्दर, निर्मल और शीतल जल वाली तीन नदियाँ उन्हें दिखाई पड़ीं। वे नदियाँ ऐसी थीं कि दो तो जलरहित थीं और एक सूख गई थी। तीनों ने उन नदियों में बड़े आनन्द के साथ स्नान क्रीड़ा की और जल पिया। फिर चलते चलते जब सायंकाल हो गया तो उनको एक भविष्यन्नगर दिखाई पड़ा। उन्होंने उसमें प्रवेश किया, और उनको रहने के लिये उस नगर में तीन मकान मिले—जिनमें से दो तो अभी बने ही नहीं थे और तीसरे में एक भी दीवार नहीं थी। वहाँ रहकर उन्होंने तीन ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया—जिनमें से दो के तो शरीर ही न थे और तीसरे के मुँह ही नहीं था। उन्होंने तीन थालियों में भोजन किया, जिसमें से दो में तो तली ही नहीं थी और तीसरी चूर्णरूप थी। उस भविष्य नगर में वे तीनों बालक आनन्दपूर्वक अपना जीवन बिताते रहे।

यह कहानी सुनाकर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी से कहा कि यह संसार भी इस कहानीकी नाईं है। केवल कल्पनापर ही इसकी स्थिति है। सार वस्तु जो कि कल्पित नहीं इसमें कुछ नहीं है।

१२—इन्द्रजालोपाख्यान

इन्द्रजालोपाख्यान योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानों में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि सारा जगत् मन के भीतर है। मन इसको एक निमेष में उत्पन्न कर लेता है और एक निमेष में लीन कर देता है। सारा दृश्य संसार स्वप्न के सदृश है। क्षण भर के स्वप्न में वे सब घटनाएँ घटित हो जाती हैं जो कि बाह्य जगत् में, जो एक दूसरा स्वप्न है, युगों और कल्पों में होती हैं! जो कुछ बाह्य जगत् में होता है वही क्षण भर में मन के अन्दर प्रतीत हो सकता है। संक्षेपतः इन्द्रजालोपाख्यान इस प्रकार है :—

इस पृथ्वी तल पर उत्तरपाण्डव नाम का एक देश था, उस पर लवण

नाम का एक बड़ा धर्मात्मा और प्रतापी राजा राज करता था। एक समय, जब कि राजा अपने दरबार में बैठे हुए थे, वहाँ पर एक इन्द्र-जाली (बाजीगर) आया और राजा को यथोचित प्रणाम करके बैठ गया। राजा ने उसको अपना कौतुक दिखाने की आज्ञा दी। इन्द्र-जाली ने अपना पिटारा खोल कर उसमें से एक मोर की पूँछ का गुच्छा निकाल कर राजा के सामने घुमाया। उसके घुमाते घुमाते राजा को निद्रा आ गई और कोई दो घड़ी तक राजा मूर्छित से हो कर निद्रा में पड़े रहे। सब दरबारी लोग सोच में हो गए, और जादूगर को बुरा-भला कहने लगे। जागने पर राजा ने सब लोगों के सम्मुख वह वृत्तान्त सुनाया जिसका कि उन्होंने उस दो घड़ी के समय में अनुभव किया था। वह इस प्रकार था :—

मोर की पूँछ का गुच्छा घूमते देखकर राजा का ध्यान उस ओर ऐसा लगा कि उसको अपनी अवस्था का विस्मरण हो गया और एक विचित्र दृश्य उसके सामने आया। उसने देखा कि एक दूसरे राजा का दूत एक बहुत तेज और सुन्दर घोड़ा लिए उसके सामने उप-स्थित है। दूत ने राजा से प्रार्थना की कि वह घोड़ा उनकी सवारी के लिए उसके राजा ने भेंट रूप से भेजा है। राजा बहुत प्रसन्न हुए और उस घोड़े पर सवार होकर बाहर निकले। घोड़ा बहुत तेज था। राजा को लेकर वह अति वेग से भागा और रोके न रुका। राजा बैठे-बैठे जब तंग आ गए और अपने राज्य से बहुत दूर दक्षिण दिशा में विन्ध्याचल के जंगल में पहुँच चुके, तब उन्होंने घोड़े पर बैठे हुए ही एक पेड़ की शाखा को पकड़ लिया और घोड़े को छोड़ दिया। जब घोड़ा भाग गया तो वे पेड़ से नीचे उतर कर विश्राम करने के निमित्त बैठ गए। उनको इतनी भूख और प्यास लगी थी कि प्राण निकले जाते थे। चारों ओर देखा। कहीं से भी अन्न अथवा जल की प्राप्ति की सम्भावना न ज्ञात पड़ी। वे जीवन से निराश हो ही चुके थे कि एक मलिन वस्त्रों वाली काली और कुरूपा चाण्डाल-कन्या एक बर्तन में जामुन का रस और दूसरे में पके हुए चावल भरे हुए मतवाली चाल से जाती हुई उनको दिखाई पड़ी। राजा इतने भूखे थे कि सब विचार छोड़कर उससे प्रार्थना करने लगे कि उस अन्न और रस में से कुछ उसको देकर उसके प्राणों की रक्षा करे। कन्या ने राजा से कहा कि वह चाण्डाल-कन्या है और वह अन्न और रस

वे विपत्ति में पड़ने के कारण दुःखी होकर सोचने लगे और उन्होंने यह निश्चय किया कि बाहर जाकर धनोपार्जन किया जाए। बाहर जाकर मार्ग में उनको बहुत कष्ट हुआ और मार्ग में चलते चलते थककर भूख और प्यास से तंग होकर वे एक तीन वृक्षों के कुंज की छाया में जा बैठे। वे तीन वृक्ष ऐसे थे जिनमें से दो तो उपजे ही नहीं थे और एक का बीज भी नहीं बोया गया था। वहाँ पर बैठ कर उन्होंने विश्राम किया और अमृत के समान सुस्वादु फलों का भक्षण किया। थोड़ी देर बाद वहाँ से उठकर वे आगे बढ़े और बहुत सुन्दर, निर्मल और शीतल जल वाली तीन नदियाँ उन्हें दिखाई पड़ीं। वे नदियाँ ऐसी थीं कि दो तो जलरहित थीं और एक सूख गई थी। तीनों ने उन नदियों में बड़े आनन्द के साथ स्नान क्रीड़ा की और जल पिया। फिर चलते चलते जब सायंकाल हो गया तो उनको एक भविष्यनगर दिखाई पड़ा। उन्होंने उसमें प्रवेश किया, और उनको रहने के लिये उस नगर में तीन मकान मिले—जिनमें से दो तो अभी बने ही नहीं थे और तीसरे में एक भी दीवार नहीं थी। वहाँ रहकर उन्होंने तीन ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया—जिनमें से दो के तो शरीर ही न थे और तीसरे के मुँह ही नहीं था। उन्होंने तीन थालियों में भोजन किया, जिसमें से दो में तो तली ही नहीं थी और तीसरी चूर्णरूप थी। उस भविष्य नगर में वे तीनों बालक आनन्दपूर्वक अपना जीवन बिताते रहे।

यह कहानी सुनाकर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी से कहा कि यह संसार भी इस कहानीकी नाईं है। केवल कल्पनापर ही इसकी स्थिति है। सार वस्तु जो कि कल्पित नहीं इसमें कुछ नहीं है।

१२—इन्द्रजालोपाख्यान

इन्द्रजालोपाख्यान योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानों में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि सारा जगत् मन के भीतर है। मन इसको एक निमेष में उत्पन्न कर लेता है और एक निमेष में लीन कर देता है। सारा दृश्य संसार स्वप्न के सदृश है। क्षण भर के स्वप्न में वे सब घटनाएँ घटित हो जाती हैं जो कि बाह्य जगत् में, जो एक दूसरा स्वप्न है, युगों और कल्पों में होती हैं! जो कुछ बाह्य जगत् में होता है वही क्षण भर में मन के अन्दर प्रतीत हो सकता है। संक्षेपतः इन्द्रजालोपाख्यान इस प्रकार है:—

इस पृथ्वी तल पर उत्तरपाण्डव नाम का एक देश था, उस पर लवण

नाम का एक बड़ा धर्मात्मा और प्रतापी राजा राज करता था। एक समय, जब कि राजा अपने दरबार में बैठे हुए थे, वहाँ पर एक इन्द्र-जाली (बाजीगर) आया और राजा को यथोचित प्रणाम करके बैठ गया। राजा ने उसको अपना कौतुक दिखाने की आज्ञा दी। इन्द्र-जाली ने अपना पिटारा खोल कर उसमें से एक मोर की पूँछ का गुच्छा निकाल कर राजा के सामने घुमाया। उसके घुमाते घुमाते राजा को निद्रा आ गई और कोई दो घड़ी तक राजा मूर्छित से हो कर निद्रा में पड़े रहे। सब दरबारी लोग सोच में हो गए, और जादूगर को बुरा-भला कहने लगे। जागने पर राजा ने सब लोगों के सम्मुख वह वृत्तान्त सुनाया जिसका कि उन्होंने उस दो घड़ी के समय में अनुभव किया था। वह इस प्रकार था :—

मोर की पूँछ का गुच्छा घूमते देखकर राजा का ध्यान उस ओर ऐसा लगा कि उसको अपनी अवस्था का विस्मरण हो गया और एक विचित्र दृश्य उसके सामने आया। उसने देखा कि एक दूसरे राजा का दूत एक बहुत तेज और सुन्दर घोड़ा लिए उसके सामने उप-स्थित है। दूत ने राजा से प्रार्थना की कि वह घोड़ा उनकी सवारी के लिए उसके राजा ने भेंट रूप से भेजा है। राजा बहुत प्रसन्न हुए और उस घोड़े पर सवार होकर बाहर निकले। घोड़ा बहुत तेज था। राजा को लेकर वह अति वेग से भागा और रोके न रुका। राजा बैठे-बैठे जब तंग आ गए और अपने राज्य से बहुत दूर दक्षिण दिशा में विन्ध्याचल के जंगल में पहुँच चुके, तब उन्होंने घोड़े पर बैठे हुए ही एक पेड़ की शाखा को पकड़ लिया और घोड़े को छोड़ दिया। जब घोड़ा भाग गया तो वे पेड़ से नीचे उतर कर विश्राम करने के निमित्त बैठ गए। उनको इतनी भूख और प्यास लगी थी कि प्राण निकले जाते थे। चारों ओर देखा। कहीं से भी अन्न अथवा जल की प्राप्ति की सम्भावना न जान पड़ी। वे जीवन से निराश हो ही चुके थे कि एक मलिन वस्त्रों वाली काली और कुरूपा चाण्डाल-कन्या एक बर्तन में जामुन का रस और दूसरे में पके हुए चावल भरे हुए मस्तानी चाल से जाती हुई उनको दिखाई पड़ी। राजा इतने भूखे थे कि सब विचार छोड़कर उससे प्रार्थना करने लगे कि उस अन्न और रस में से कुछ उनको देकर उसके प्राणों की रक्षा करे। कन्या ने राजा से कहा कि वह चाण्डाल-कन्या है और वह अन्न और रस

अपने पिता के लिए ले जा रही है। बहुत प्रार्थना करने पर भी उसने राजा को कुछ न दिया। राजा ने उसका पीछा किया—तब उस कन्या ने राजा से कहा—यदि तुम मेरे पति बनना स्वीकार करो तो मैं अपने पिता के अन्न में से कुछ भाग तुमको दे दूँगी। राजा भूख प्यास से इतने पीड़ित हो रहे थे कि उन्होंने उसका पति बनना स्वीकार कर लिया। इसको थोड़ा सा भात खिलाकर और जामुन का रस पिलाकर वह बड़ी प्रसन्न होकर अपने पिता के पास गई और उससे बोली—मैंने यह सुन्दर पुरुष अपना पति बना लिया है। पिता बहुत प्रसन्न हुए और बोले—बहुत अच्छा किया। जा इसको लेकर घर जा और सुख से जीवन बिता। राजा ने चाण्डाल के घर आकर देखा कि चारों ओर अस्थि, मांस और रुधिर, कुत्ते, गधे और भैंस आदि जानवरों की खालें बिखरी पड़ी हैं। एक बहुत ही गन्दी दुर्गन्धयुक्त झोंपड़ी में उसकी सास मांस पका रही थी। अपने जामाता को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई; रुधिर और मांस का भोजन राजा को परोसा। सारी चाण्डाल बिरादरी को इकट्ठा करके चाण्डाल-दम्पति ने बड़े समारोह के साथ अपनी पुत्री का विवाह रचाया। थोड़े ही समय में राजा एक प्रतिष्ठित चाण्डाल बन गया। कुछ वर्षों के भीतर उसकी स्त्री से उसके यहाँ तीन पुत्र और तीन कन्याएँ हुई। राजा अपने राजभाव को बिल्कुल ही भूल गया, और चाण्डालोचित सब कर्म करने लगा। बहुत सुख से अपने गृहस्थी में रहता रहा। एक समय ऐसा आया कि वर्षा न होने कारण बहुत बड़ा अकाल पड़ गया। उस देश में अन्न और जल का अभाव हो गया। सब लोग भूखे मरने लगे। तङ्ग आकर वह चाण्डाल अपनी स्त्री और बच्चों को साथ लेकर दूसरे देश मे भोजनोपार्जन करने के लिये बाहर निकला। रास्ते में वे सब भोजन के बिना तंग आ गए और चलने योग्य न रहकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गए। वहाँ पर पड़े-पड़े, सबसे छोटे पुत्र ने पिता से कहा कि भूख के मारे उसके प्राण निकल रहे हैं। पिता के पास और साधन कुछ नहीं था, इसलिए उसने अपने पुत्र की क्षुधा तृप्ति के लिए अपने आपको एक लकड़ी के जलते अम्बार पर रखते हुए कहा कि ले तू मेरा मांस खाकर अपने प्राण की रक्षा कर ले। आग से जलने पर उस चाण्डाल की चेतना दूसरी स्थिति का अनुभव करने लगी—राजा लवण मूर्च्छा से जाग गए और

अपने आपको उन्होंने राजा के रूप में सिंहासन पर बैठा हुआ पाया। सामने इन्द्रजाली बैठा था और सब दरबारी चिन्ताकुल सामने खड़े थे।

राजा को यह सब दृश्य केवल दो घड़ी के भीतर अनुभव करके बड़ा आश्चर्य हुआ। इन्द्रजालीने उससे कहा—महाराज ये सब घटनाएँ सच्ची हैं और यदि आप को विश्वास न हो तो आप स्वयं उस देश में जाकर देख लीजिये। राजा अपनी सेना को लेकर दक्षिण को रवाना हुए। चलते हुए रास्ते में उन्होंने वे सब देश, स्थान, और दृश्य देखे। किरात देश में पहुँचकर हूबहू वही सब स्थान देखे जिनमें उसने भ्रमण और धनुपार्जन किया था। वह स्थान भी देखा जहाँ पर कि उसने अपनी देह का अपने पुत्रों की क्षुधातृप्ति के लिए बलिदान किया था। अकाल के सभी निशान उनको वहाँ पर दिखाई पड़े। चाण्डाल गृह में जाकर देखा तो उनकी सास घर में बैठी हुई अपने जमाई की मृत्यु के शोक में रो रही थी। राजा ने उसके पास जाकर उसको सान्त्वना दी। उसको धन देकर प्रसन्न किया, और आश्चर्य से पूर्ण होकर यात्रा से घर लौट आया।

१३—शुक्रोपाख्यान

शुक्रोपाख्यान द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि वासना और संकल्प के अनुसार ही मनुष्य की गति होती है, इसलिये निर्वाणपद प्राप्त करने की इच्छा वाले मनुष्य को संसार के विषयों के लिये वासना नहीं करनी चाहिए और किसी भी सांसारिक सुख अथवा भोग का अपने मन में संकल्प उदय न होने देना चाहिये।

एक समय की बात है कि मन्दराचल पर्वत पर भृगुमुनि ने उग्र तप करना आरम्भ किया। उनके समीप उनकी देखभाल और सेवा करने के लिये उनके प्रिय और सर्व गुण सम्पन्न पुत्र शुक रहने लगे। भृगु ऋषि ने निर्विकल्प समाधि लगाई तो शुक्रको सेवा कार्य से कुछ अवकाश मिला।

एक समय जब कि शुक शान्तचित्त बैठे हुए प्रकृति की शोभा का निरीक्षण कर रहे थे, उनको आकाश मार्ग से जाती हुई एक रूपलावण्य-सम्पन्ना अप्सरा दिखाई पड़ी। उसको देखते ही शुक के मन में कामवासना उदय हो आई। उसको प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। उनको यह ख़याल आया कि यह अप्सरा देवलोक की है इसलिये देवलोक जाना चाहिए। यह संकल्प उदय होते ही उनका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को छोड़कर देवलोक पहुँचा। शुक ने अपने आपको इन्द्रलोक

में पाया। वहाँ पर चारों ओर ऐश्वर्य और भोग, सौन्दर्य और आनन्द का साम्राज्य दिखाई पड़ता था। इन्द्र ने शुक का आदर सत्कार किया और उनको स्वर्ग में रहकर वहाँ के आनन्द का भोग करने के लिये निमन्त्रण दिया। शुक का मन तो उसी अप्सरा के पीछे लगा था जिसको देखकर वे काम से परास्त हुए थे। स्वर्ग में उसकी तलाश में फिरने लगे। आखिर वह एक वाटिका में विहार करते हुए मिल ही गई। आँखें चार होते ही दोनों में परस्पर स्नेह का उदय हो गया, और आनन्द से एक दूसरे के साथ रहने लगे। इस प्रकार उस विश्वाची नाम की देवसुन्दरी के साथ आनन्द का उपभोग करते करते शुक को बहुत समय बीत गया। जब उसके पूर्वकृत पुण्यों का भोग द्वारा क्षय हो गया तो वह स्वर्ग से गिरा। इसी प्रकार वह अप्सरा भी अपने पुण्य क्षीण होने के कारण स्वर्ग से गिरी। कुछ समय तक दोनों के सूक्ष्म शरीर चन्द्रमा की किरणों में रहे। फिर अनाज के पौदों में आकर रहे। उस पौदे के धान्य को जिसमें शुक का जीव था दशारण्य देश के एक ब्राह्मण ने खाया और उसके धान्य को जिसमें विश्वाची का जीव था मालव देश के राजा ने खाया। ब्राह्मण के भोजन का वीर्य बनने पर शुक उसकी स्त्री के गर्भ से उस ब्राह्मण का पुत्र हुआ, और मालव नरेश के यहाँ विश्वाची का जीव उसकी कन्या बनकर उत्पन्न हुआ। जब कन्या बड़ी होकर रूपवती और विवाह योग्य हुई तो राजा ने उसको स्वयंवर द्वारा वर चुनने की आज्ञा दी। दैवयोग से वह ब्राह्मण-बालक भी वहाँ पर आ निकला। पूर्व स्नेह अदृष्ट रूप से उदय हो आया, और उस कन्या ने विवश होकर ब्राह्मण के ग़रीब बालक को अपना पति बना लिया। कुछ दिन पीछे राजा अपने जामाता को राज्य सौंपकर वन चले गए। इस प्रकार बहुत दिनों तक राज और राजतनया का उपभोग करने पर शुक के जीव ने उस देह का त्याग किया। तब वह बङ्ग देश में एक धीवर हुआ। फिर एक सूर्यवंशी राजा हुआ। फिर एक बड़ा विद्वान् गुरु हुआ। फिर एक विद्याधर हुआ। फिर मद्रास में एक राजा हुआ। फिर वासुदेव नाम का एक तपस्वी बालक हुआ। फिर विन्ध्याचल में एक किरात हुआ। फिर सौवीर और हैवट देश में मंत्री हुआ। फिर त्रिगर्त देश में एक गधा हुआ, फिर किरात देश में एक बाँस का पौदा हुआ। फिर चीन के जंगल में एक हरिण हुआ। फिर एक ताड़ के वृक्ष में वास करनेवाला सर्प हुआ। फिर एक वन में मुर्गा

हुआ। इस प्रकार अपनी वासना और कर्मनियमानुसार वह बहुत से रूपों को धारण करता हुआ एक ब्राह्मण-कुमार होकर गङ्गा तट पर तपस्या करने लगा। उसका शुक्र शरीर विकृत होकर शीर्ण होने लगा।

भृगु ऋषि की जब बहुत काल पीछे समाधि खुली तो उन्होंने शुक्र को अपने पास न पाया। तलाश करने पर जब उसके शरीर को मृत अवस्था में पाया तो उनको काल के ऊपर बहुत क्रोध आया और काल को शाप देने के लिये तैयार हुए। इतने ही में काल ने स्थूल रूप धारण करके भृगुऋषि को प्रणाम किया, और कहा—महाराज आप क्या कर रहे हैं। मैं काल तो भगवान् का नियत किया हुआ हूँ, और सदा अपने धर्म का पालन करता हूँ। मुझे आप शाप नहीं दे सकते। मैं सब प्राणियों की वासना और कर्मों के अनुसार उनके स्थूल शरीर की तबदीली किया करता हूँ। आपका पुत्र शुक्र अपनी वासनाओं के और संकल्पों के अनुसार ही अगण्य योनियों में भ्रमण करता फिर रहा है। कालने उसके सब जन्मों का वृत्तान्त सुनाकर भृगु को बतलाया कि शुक्र का जीव इस समय ब्राह्मण बालक बना हुआ गङ्गा-तट पर तप कर रहा है। विश्वास न हो तो जाकर देख लिया जाए। भृगु मुनि काल को लेकर उसके समीप गए। ब्राह्मण-बालक ने दोनों को देखा किन्तु पहचाना नहीं। भृगु ने उसको ध्यान लगाकर देखने को कहा। तब उसको अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो आया। पिता की आज्ञानुसार उसने फिर शुक्र होने की तीव्र वासना की और उसके फलरूप ब्राह्मण बालक के शरीर को छोड़कर उसकी पुर्यष्टक (सूक्ष्म देह) ने शुक्र शरीर में प्रवेश करके उसको जीवित किया।

वसिष्ठजी ने राम से कहा कि शुक्र ने जो रूप धारण किया अपनी वासना के अनुसार किया। हरएक जीव की हरएक वासना उसके लिये एक बाँधनेवाली डोरी है, जो कुछ काल के लिये अवश्य ही उसे उस विषय से बाँधेगी जिसकी वह चाह करता है। किसी उर्दू कवि ने ठीक कहा है :—

आर्जूये दीदे जानां बज्म में लाई मुझे।
अर्जूये दीदे जानां बज्म से भी ले चली॥

अर्थात् प्रिय वस्तु के दर्शन (प्राप्ति) की अभिलाषा (वासना) ही मुझे संसार में लाती है और वही मुझे ससार से ले जाती है।

कठोपनिषद् में इसी कारण से यह कहा है—

में पाया। वहाँ पर चारों ओर ऐश्वर्य और भोग, सौन्दर्य और आनन्द का साम्राज्य दिखाई पड़ता था। इन्द्र ने शुक्र का आदर सत्कार किया और उनको स्वर्ग में रहकर वहाँ के आनन्द का भोग करने के लिये निमन्त्रण दिया। शुक्र का मन तो उसी अप्सरा के पीछे लगा था जिसको देखकर वे काम से परास्त हुए थे। स्वर्ग में उसकी तलाश में फिरने लगे। आखिर वह एक वाटिका में विहार करते हुए मिल ही गई। आँखें चार होते ही दोनों में परस्पर स्नेह का उदय हो गया, और आनन्द से एक दूसरे के साथ रहने लगे। इस प्रकार उस विश्वाची नाम की देवसुन्दरी के साथ आनन्द का उपभोग करते करते शुक्र को बहुत समय बीत गया। जब उसके पूर्वकृत पुण्यों का भोग द्वारा क्षय हो गया तो वह स्वर्ग से गिरा। इसी प्रकार वह अप्सरा भी अपने पुण्य क्षीण होने के कारण स्वर्ग से गिरी। कुछ समय तक दोनों के सूक्ष्म शरीर चन्द्रमा की किरणों में रहे। फिर अनाज के पौदों में आकर रहे। उस पौदे के धान्य को जिसमें शुक्र का जीव था दशारण्य देश के एक ब्राह्मण ने खाया और उसके धान्य को जिसमें विश्वाची का जीव था मालव देश के राजा ने खाया। ब्राह्मण के भोजन का वीर्य बनने पर शुक्र उसकी स्त्री के गर्भ से उस ब्राह्मण का पुत्र हुआ, और मालव नरेश के यहाँ विश्वाची का जीव उसकी कन्या बनकर उत्पन्न हुआ। जब कन्या बड़ी होकर रूपवती और विवाह योग्य हुई तो राजा ने उसको स्वयंवर द्वारा वर चुनने की आज्ञा दी। दैवयोग से वह ब्राह्मण-बालक भी यहाँ पर आ निकला। पूर्व स्नेह अदृष्ट रूप से उदय हो आया, और उस कन्या ने विवश होकर ब्राह्मण के ग़रीब बालक को अपना पति बना लिया। कुछ दिन पीछे राजा अपने जामाता को राज्य सौंपकर बन चले गए। इस प्रकार बहुत दिनों तक राज और राजतनया का उपभोग करने पर शुक्र के जीव ने उस देह का त्याग किया। तब वह बङ्ग देश में एक धीवर हुआ। फिर एक सूर्यवंशी राजा हुआ। फिर एक बड़ा विद्वान् गुरु हुआ। फिर एक विद्याधर हुआ। फिर मद्रास में एक राजा हुआ। फिर वासुदेव नाम का एक तपस्वी बालक हुआ। फिर विन्ध्याचल में एक किरात हुआ। फिर सौवीर और कैकट देश में मंत्री हुआ। फिर त्रिगर्त देश में एक गधा हुआ. फिर किरात देश में एक बाँस का पौदा हुआ। फिर चीन के जंगल में एक हरिण हुआ। फिर एक ताड़ के वृक्ष में वास करनेवाला सर्प हुआ। फिर एक बन में मुर्गा

हुआ। इस प्रकार अपनी वासना और कर्मनियमानुसार वह बहुत से रूपों को धारण करता हुआ एक ब्राह्मण-कुमार होकर गङ्गा तट पर तपस्या करने लगा। उसका शुक्र शरीर विकृत होकर शीर्ण होने लगा।

भृगु ऋषि की जब बहुत काल पीछे समाधि खुली तो उन्होंने शुक्र को अपने पास न पाया। तलाश करने पर जब उसके शरीर को मृत अवस्था में पाया तो उनको काल के ऊपर बहुत क्रोध आया और काल को शाप देने के लिये तैयार हुए। इतने ही में काल ने स्थूल रूप धारण करके भृगुऋषि को प्रणाम किया, और कहा–महाराज आप क्या कर रहे हैं। मैं काल तो भगवान् का नियत किया हुआ हूँ, और सदा अपने धर्म का पालन करता हूँ। मुझे आप शाप नहीं दे सकते। मैं सब प्राणियों की वासना और कर्मों के अनुसार उनके स्थूल शरीर की बदली किया करता हूँ। आपका पुत्र शुक्र अपनी वासनाओं के और सङ्कल्पों के अनुसार ही अगण्य योनियों में भ्रमण करता फिर रहा है। कालने उसके सब जन्मों का वृत्तान्त सुनाकर भृगु को बतलाया कि शुक्र का जीव इस समय ब्राह्मण बालक बना हुआ गङ्गा-तट पर तप कर रहा है। विश्वास न हो तो जाकर देख लिया जाए। भृगु मुनि काल को लेकर उसके समीप गए। ब्राह्मण-बालक ने दोनों को देखा किन्तु पहचाना नहीं। भृगु ने उसको ध्यान लगाकर देखने को कहा। तब उसको अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो आया। पिता की आज्ञानुसार उसने फिर शुक्र होने की तीव्र वासना की और उसके फलरूप ब्राह्मण बालक के शरीर को छोड़कर उसकी पुर्यष्टक (सूक्ष्म देह) ने शुक्र शरीर में प्रवेश करके उसको जीवित किया।

वसिष्ठजी ने राम से कहा कि शुक्र ने जो रूप धारण किया अपनी वासना के अनुसार किया। हरएक जीव की हरएक वासना उसके लिये एक बाँधनेवाली डोरी है, जो कुछ काल के लिये अवश्य ही उसे उस विषय से बाँधेगी जिसकी वह चाह करता है। किसी उर्दू कवि ने ठीक कहा है :—

> आर्जूये दीदे जाना बज्म में लाई मुझे।
> आर्जूये दीदे जाना बज्म से भी ले चली॥

अर्थात् प्रिय वस्तु के दर्शन (प्राप्ति) की अभिलाषा (वासना) ही मुझे संसार में लाती है और वही मुझे संसार से ले जाती है।

कठोपनिषद् में इसी कारण से यह कहा है—

में पाया। वहाँ पर चारों ओर ऐश्वर्य और भोग, सौन्दर्य और आनन्द का साम्राज्य दिखाई पड़ता था। इन्द्र ने शुक का आदर सत्कार किया और उनको स्वर्ग में रहकर वहाँ के आनन्द का भोग करने के लिये निमन्त्रण दिया। शुक का मन तो उसी अप्सरा के पीछे लगा था जिसको देखकर वे काम से परास्त हुए थे। स्वर्ग में उसकी तलाश में फिरने लगे। आखिर वह एक वाटिका में विहार करते हुए मिल ही गई। आँखें चार होते ही दोनों में परस्पर स्नेह का उदय हो गया, और आनन्द से एक दूसरे के साथ रहने लगे। इस प्रकार उस विश्वाची नाम की देवसुन्दरी के साथ आनन्द का उपभोग करते करते शुक को बहुत समय बीत गया। जब उसके पूर्वकृत पुण्यों का भोग द्वारा क्षय हो गया तो वह स्वर्ग से गिरा। इसी प्रकार वह अप्सरा भी अपने पुण्य क्षीण होने के कारण स्वर्ग से गिरी। कुछ समय तक दोनों के सूक्ष्म शरीर चन्द्रमा की किरणों में रहे। फिर अनाज के पौदों में आकर रहे। उस पौदे के धान्य को जिसमें शुक का जीव था दशारण्य देश के एक ब्राह्मण ने खाया और उसके धान्य को जिसमें विश्वाची का जीव था मालव देश के राजा ने खाया। ब्राह्मण के भोजन का वीर्य बनने पर शुक उसकी स्त्री के गर्भ से उस ब्राह्मण का पुत्र हुआ, और मालव नरेश के यहाँ विश्वाची का जीव उसकी कन्या बनकर उत्पन्न हुआ। जब कन्या बड़ी होकर रूपवती और विवाह योग्य हुई तो राजा ने उसको स्वयंवर द्वारा वर चुनने की आज्ञा दी। दैवयोग से वह ब्राह्मण-बालक भी यहाँ पर आ निकला। पूर्व स्नेह अदृष्ट रूप से उदय हो आया, और उस कन्या ने विवश होकर ब्राह्मण के गरीब बालक को अपना पति बना लिया। कुछ दिन पीछे राजा अपने जामाता को राज्य सौंपकर वन चले गए। इस प्रकार बहुत दिनों तक राज और राजतनया का उपभोग करने पर शुक के जीव ने उस देह का त्याग किया। तब वह वङ्ग देश में एक धीवर हुआ। फिर एक सूर्यवंशी राजा हुआ। फिर एक बड़ा विद्वान् गुरु हुआ। फिर एक विद्याधर हुआ। फिर मद्रास में एक राजा हुआ। फिर वासुदेव नाम का एक तपस्वी बालक हुआ। फिर विन्ध्याचल में एक किरात हुआ। फिर सौवीर और कैकट देश में मंत्री हुआ। फिर त्रिगर्त देश में एक गधा हुआ, फिर किरात देश में एक बाँस का पौदा हुआ। फिर चीन के जंगल में एक हरिण हुआ। फिर एक ताड़ के वृक्ष में वास करनेवाला सर्प हुआ। फिर एक वन में मुर्गा

हुआ। इस प्रकार अपनी वासना और कर्मनियमानुसार वह बहुत से रूपों को धारण करता हुआ एक ब्राह्मण-कुमार होकर गङ्गा तट पर तपस्या करने लगा। उसका शुक्र शरीर विकृत होकर शीर्ण होने लगा।

भृगु ऋषि की जब बहुत काल पीछे समाधि खुली तो उन्होंने शुक्र को अपने पास न पाया। तलाश करने पर जब उसके शरीर को मृत अवस्था में पाया तो उनको काल के ऊपर बहुत क्रोध आया और काल को शाप देने के लिये तैयार हुए। इतने ही में काल ने स्थूल रूप धारण करके भृगुऋषि को प्रणाम किया, और कहा–महाराज आप क्या कर रहे हैं। मैं काल तो भगवान् का नियत किया हुआ हूँ, और सदा अपने धर्म का पालन करता हूँ। मुझे आप शाप नहीं दे सकते। मैं सब प्राणियों की वासना और कर्मों के अनुसार उनके स्थूल शरीर की तबदीली किया करता हूँ। आपका पुत्र शुक्र अपनी वासनाओं के और संकल्पों के अनुसार ही अगण्य योनियों में भ्रमण करता फिर रहा है। कालने उसके सब जन्मों का वृत्तान्त सुनाकर भृगु को बतलाया कि शुक्र का जीव इस समय ब्राह्मण बालक बना हुआ गङ्गा-तट पर तप कर रहा है। विश्वास न हो तो जाकर देख लिया जाए। भृगु मुनि काल को लेकर उसके समीप गए। ब्राह्मण-बालक ने दोनों को देखा किन्तु पहचाना नहीं। भृगु ने उसको ध्यान लगाकर देखने को कहा। तब उसको अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो आया। पिता की आज्ञानुसार उसने फिर शुक्र होने की तीव्र वासना की और उसके फलरूप ब्राह्मण-बालक के शरीर को छोड़कर उसकी पुर्यष्टक (सूक्ष्म देह) ने शुक्र शरीर में प्रवेश करके उसको जीवित किया।

वसिष्ठजी ने राम से कहा कि शुक्र ने जो रूप धारण किया अपनी वासना के अनुसार किया। हरएक जीव की हरएक वासना उसके लिये एक बाँधनेवाली डोरी है, जो कुछ काल के लिये अवश्य ही उसे उस विषय से बाँधेगी जिसकी वह चाह करता है। किसी उर्दू कवि ने ठीक कहा है :—

> आर्जूये दीदे जानां बज्म में लाई मुझे।
> आर्जूये दीदे जानां बज्म से भी ले चली॥

अर्थात् प्रिय वस्तु के दर्शन (प्राप्ति) की अभिलाषा (वासना) ही मुझे संसार में लाती है और वही मुझे संसार से ले जाती है।

कठोपनिषद् में इसी कारण से यह कहा है—

में पाया। वहाँ पर चारों ओर ऐश्वर्य और भोग, सौन्दर्य और आनन्द का साम्राज्य दिखाई पड़ता था। इन्द्र ने शुक्र का आदर सत्कार किया और उनको स्वर्ग में रहकर वहाँ के आनन्द का भोग करने के लिये निमन्त्रण दिया। शुक्र का मन तो उसी अप्सरा के पीछे लगा था जिसको देखकर वे काम से परास्त हुए थे। स्वर्ग में उसकी तलाश में फिरने लगे। आखिर वह एक वाटिका में विहार करते हुए मिल ही गई। आँखें चार होते ही दोनों में परस्पर स्नेह का उदय हो गया, और आनन्द से एक दूसरे के साथ रहने लगे। इस प्रकार उस विश्वाची नाम की देवसुन्दरी के साथ आनन्द का उपभोग करते करते शुक्र को बहुत समय बीत गया। जब उसके पूर्वकृत पुण्यों का भोग द्वारा क्षय हो गया तो वह स्वर्ग से गिरा। इसी प्रकार वह अप्सरा भी अपने पुण्य क्षीण होने के कारण स्वर्ग से गिरी। कुछ समय तक दोनों के सूक्ष्म शरीर चन्द्रमा की किरणों मे रहे। फिर अनाज के पौदों में आकर रहे। उस पौदे के धान्य को जिसमें शुक्र का जीव था दशारण्य देश के एक ब्राह्मण ने खाया और उसके धान्य को जिसमें विश्वाची का जीव था मालव देश के राजा ने खाया। ब्राह्मण के भोजन का वीर्य बनने पर शुक्र उसकी स्त्री के गर्भ से उस ब्राह्मण का पुत्र हुआ, और मालव नरेश के यहाँ विश्वाची का जीव उसकी कन्या बनकर उत्पन्न हुआ। जब कन्या बड़ी होकर रूपवती और विवाह योग्य हुई तो राजा ने उसको स्वयंवर द्वारा वर चुनने की आज्ञा दी। दैवयोग से वह ब्राह्मण-बालक भी यहाँ पर आ निकला। पूर्व स्नेह अदृष्ट रूप से उदय हो आया, और उस कन्या ने विवश होकर ब्राह्मण के ग़रीब बालक को अपना पति बना लिया। कुछ दिन पीछे राजा अपने जामाता को राज्य सौंपकर वन चले गए। इस प्रकार बहुत दिनों तक राज और राजतनया का उपभोग करने पर शुक्र के जीव ने उस देह का त्याग किया। तब वह बङ्ग देश में एक धीवर हुआ। फिर एक सूर्यवंशी राजा हुआ। फिर एक बड़ा विद्वान् गुरु हुआ। फिर एक विद्याधर हुआ। फिर मद्रास में एक राजा हुआ। फिर वासुदेव नाम का एक तपस्वी बालक हुआ। फिर विन्ध्याचल में एक किरात हुआ। फिर सौवीर और कैकट देश में मंत्री हुआ। फिर त्रिगर्त देश में एक गधा हुआ. फिर किरात देश में एक बाँस का पौदा हुआ। फिर चीन के जंगल में एक हरिण हुआ। फिर एक ताड़ के वृक्ष में वास करनेवाला सर्प हुआ। फिर एक वन में मुर्ग़ा

मर जाते हैं। पत्नी का भी देहान्त हो जाता है। वह बहुत रोता है और शोकातुर होकर अपना पेट पालने के वास्ते दूसरे देश को चला जाता है। रास्ते में उसको अचानक ही एक हाथी अपनी सूँड़ में उठाकर अपनी पीठ पर बैठा लेता है। यह हाथी एक राज्य का हाथी है जो कि उस राज्य के राजा की मृत्यु हो जाने पर इसलिये छोड़ा गया है कि जिसे यह उठा लेगा वही राजा बनाया जाएगा। हाथी के पीछे-पीछे राज्य के मंत्री और अन्य कर्मचारी हैं। उन्होंने उस चाण्डाल को प्रणाम किया और हाथी पर से उतारकर उसको स्नान कराया और नृपोचित शृंगार कराकर अपने राज्य स्थान पर ले जाकर गद्दी पर बैठा दिया। अब वह चाण्डाल राजा होकर सब प्रकार के भोगों का उपभोग करने लगा। उसके राज्य में किसी बात की कमी नहीं है। धन-धान्य अतुल है। अन्त पुर में एक से एक उत्तम और सुन्दर स्त्री उसकी सेवा के लिये मौजूद हैं। पूरे आठ वर्ष उसने सब प्रकार के सुख भोगे और बड़ी अच्छी तरह से राज्य किया। दुर्भाग्यवश एक दिन वहाँ पर उसके यौवन के मित्र और सङ्गी कुछ चाण्डाल आ निकले। उनके सामने से राजा साहब की सवारी निकली तो उन चाण्डालों ने अपने पुराने मित्र कटञ्ज चाण्डाल को राजा के रूप में देखकर पहचान लिया और वे प्रसन्न होकर चिल्लाए और उससे मिलने के लिये दौड़े। सिपाहियों के रोकने पर भी न रुके, क्योंकि जिनका मित्र राजा हो उन्हें सिपाहियों का क्या डर। यह रहस्य प्रजा को मालूम हो जाता है और सारे नगर में इस बात की खबर फैल जाती है कि यहाँ का राजा चाण्डाल है। रानियों को और नगर के द्विजों को इस खबर के पाते ही इतना दुःख और पश्चाताप हुआ कि नगर के लोगों ने प्रायश्चित करने के लिये एक स्थान पर बहु विस्तृत अग्निकुण्ड बनाकर अग्नि में प्रवेश किया। राजा को यह सब दृश्य असह्य हो गया और उसने भी उसी अग्निकुण्ड में प्रवेश कर लिया। जब उसका शरीर अग्नि से जलने लगा तो वह अचेत हो गया। जब उसे चेतना आती है तो वह अपने आपको गाधी के रूप में गंगा में गोता लगाकर ऊपर को सर उठाता हुआ पाता है। उसकी बुद्धि में ही नहीं आता कि क्या मामला है। तट की ओर जो देखा तो उसके कपड़े वहाँ पर मौजूद हैं, और चारों ओर की स्थिति पर गौर करने से यही मालूम हुआ कि उसने यह सब अनुभव उतने ही समय में कर लिया जितना कि उसको गंगा में एक गोता लगाने में हुआ था।

देवताओं के वश से बाहर की बात है। इसलिये वे स्वयं अपना सुदर्शन चक्र लेकर युद्ध-स्थानपर आए और उन तीनों को मारकर उनको अपने लोक में स्थान दिया और देवताओं को भय और दैत्याक्रमण से मुक्त किया।

१६—दाशूरोपाख्यान

मगध देश में शरलोमा नाम का एक मुनि रहता था। उसका एक-मात्र पुत्र दाशूर अपने पिता को बहुत प्यार करता था। समय आनेपर जब शरलोमा की मृत्यु हो गई तो दाशूर को अत्यन्त शोक हुआ, और वह अधीर होकर रोने लगा। उसका तीव्र दुःख देखकर एक वनदेवी को बहुत करुणा आई और वह उसके समीप जाकर अदृष्ट रहते हुए ही उसको समझाने लगी—हे साधो! तू क्यों शोक करता है? क्या तेरे लिये कोई ऐसी घटना हो गई है जो दूसरों के लिये नहीं होती? संसार का यह अटल नियम है कि यहाँपर जीव पैदा होकर कुछ दिन जीकर मर जाते हैं। ब्रह्मा तक को भी एक दिन नाश को प्राप्त होना है। तब फिर किसी के मरने पर शोक क्यों किया जाए? रोना तो उनों का काम है जिनको संसार के अटल नियमों का ज्ञान नहीं है। तुम तो ऐसे नहीं हो। उठो और अपने जीवन के ध्येय की प्राप्ति में लगो।

दाशूर को होश आया और उसने विचार किया कि पिता के मरने पर शोक करना व्यर्थ है। शोक करने से पिताजी जीवित नहीं हो सकते। अब अपने जीवन को सुधारना चाहिए। यह सोचकर उसने तप करने का निश्चय किया। तप करने के लिये उसने एक अत्यन्त पवित्र स्थान की खोज करनी शुरू की, लेकिन उसको कहींपर भी कोई पवित्र स्थान न मिला। अन्त में उसकी समझ में यह आया कि यदि वह किसी प्रकार किसी वृक्ष की फुनगल (अग्रभाग) पर स्थिर रह सके तो वह सबसे शुद्ध स्थान तप करने का होगा। यह इच्छा अपने मन में रखकर उसने कुछ लकड़ियाँ एकत्रित करके आग जलाई और अपना माँस काट काटकर अग्नि देवता को बलि देना आरम्भ किया। ब्राह्मण के माँस की बली आग में पड़ते ही अग्नि देवता को बहुत दुख हुआ और वे ब्राह्मण के सामने प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो गए और उससे वर माँगने को कहा। दाशूर ने अपनी इच्छा प्रकट की। अग्निदेव ने वर दिया कि उनको यहाँपर खड़े हुए कदम्ब वृक्ष की शाखा के अग्र भागपर रहने की शक्ति प्राप्त हो।

मर जाती है। पत्नी का भी देहान्त हो जाता है। वह बहुत रोता है और शोकातुर होकर अपना पेट पालने के वास्ते दूसरे देश को चला जाता है। रास्ते में उसको अचानक ही एक हाथी अपनी सूँड़ में उठाकर अपनी पीठ पर बैठा लेता है। यह हाथी एक राज्य का हाथी है जो कि उस राज्य के राजा की मृत्यु हो जाने पर इसलिये छोड़ा गया है कि जिसे वह उठा लेगा वही राजा बनाया जाएगा। हाथी के पीछे-पीछे राज्य के मंत्री और अन्य कर्मचारी हैं। उन्होंने उस चाण्डाल को प्रणाम किया और हाथी पर से उतारकर उसको स्नान कराया और नृपोचित शृङ्गार कराकर अपने राज्य स्थान पर ले जाकर गद्दी पर बैठा दिया। अब वह चाण्डाल राजा होकर सब प्रकार के भोगों का उपभोग करने लगा। उसके राज्य में किसी बात की कमी नहीं है। धन धान्य अतुल है। अन्तःपुर में एक से एक उत्तम और सुन्दर स्त्री उसकी सेवा के लिये मौजूद हैं। पूरे आठ वर्ष उसने सब प्रकार के सुख भोगे और बड़ी अच्छी तरह से राज्य किया। दुर्भाग्यवश एक दिन वहाँ पर उसके यौवन के मित्र और सङ्गी कुछ चाण्डाल आ निकले। उनके सामने से राजा साहब की सवारी निकली तो उन चाण्डालों ने अपने पुराने मित्र कटञ्ज चाण्डाल को राजा के रूप में देखकर पहचान लिया और वे प्रसन्न होकर चिल्लाए और उससे मिलने के लिये दौड़े। सिपाहियों के रोकने पर भी न रुके, क्योंकि जिनका मित्र राजा हो उन्हें सिपाहियों का क्या डर। यह रहस्य प्रजा को मालूम हो जाता है और सारे नगर में इस बात की खबर फैल जाती है कि वहाँ का राजा चाण्डाल है। रानियों को और नगर के द्विजों को इस खबर के पाते ही इतना दुःख और पश्चात्ताप हुआ कि नगर के लोगों ने प्रायश्चित करने के लिये एक स्थान पर बहुत विस्तृत अग्निकुण्ड बनाकर अग्नि में प्रवेश किया। राजा को यह सब दृश्य असह्य हो गया और उसने भी उसी अग्निकुण्ड में प्रवेश कर लिया। जब उसका शरीर अग्नि से जलने लगा तो वह अचेत हो गया। जब उसे चेतना आती है तो वह अपने आपको गाधी के रूप में गंगा में गोता लगाकर ऊपर को सर उठाता हुआ पाता है। उसकी बुद्धि में ही नहीं आता कि क्या मामला है। तट की ओर जो देखा तो उसके कपड़े वहीं पर मौजूद हैं, और चारों ओर की स्थिति पर गौर करने से यही मालूम हुआ कि उसने यह सब अनुभव उतने ही समय में कर लिया जितना कि उसको गंगा में एक गोता लगाने में हुआ था।

कुछ दिन पीछे उसके घर पर एक मुसाफिर अतिथि होकर, आता है। रात को उसको भोजन कराकर और आराम के लिये योग्य आसन देकर गाधी ने उस यात्री से अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाने को प्रार्थना की। यात्री ने कहा—हे ब्राह्मण, मैंने बहुत देश में भ्रमण किया है पर एक देश में मैंने इतना हृदय-विदारक दृश्य देखा है कि उसका ध्यान करते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं और रोना आता है। यहाँ से बहुत दूर उत्तर दिशा में एक देश है। वहाँ सारी द्विज-प्रजा और सारी रानियाँ इस कारण अग्नि में प्रवेश कर गईं कि उनको आठ वर्ष तक अज्ञाततया एक चाण्डाल के राज्य में जीवन बिताना पड़ा। चाण्डाल राजा भी दुःखी होकर उसी अग्नि में प्रविष्ट होकर नष्ट हो गया। वह दृश्य मैंने इन्हीं आँखों से देखा है। वहाँ से मैं प्रयाग गया और त्रिवेणी में स्नान करके सीधा यहाँ आ रहा हूँ।

गाधी को यह बात सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ और उस घटना-स्थान को देखने की प्रबल इच्छा हुई। यात्री को साथ लेकर वे उस राज्य में गए और वहाँ सब बातें उसी प्रकार पाईं जैसे कि उन्होंने अनुभव की थीं। फिर वे किरात देश में गए और वे सब बातें देखीं जो उन्होंने अपने चाण्डाल जीवन में अनुभव की थीं।

इन सब बातों पर विचार करने से उसे ज्ञान हुआ यही माया का स्वरूप है।

२३—उद्दालक की कथा

मनुष्य को शान्ति और आनन्द का अनुभव तभी हो सकता है जब कि वह अपने आपको सत्ता-सामान्य में स्थित कर लेता है। जब तक मनुष्य विकारवान् नाना पदार्थों में अपना अहंभाव रखता है तब तक उसे शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषय पर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को उद्दालक मुनि का उपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है:—

गन्धमादन पर्वत पर उद्दालक नाम का एक युवा मुनि वास करता था। एक समय उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अभी तक उसको शान्ति और आनन्द का अनुभव नहीं हुआ; उसके लिये प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य-जीवन का परम उद्देश्य यही है। इन्द्रियों के भोग भोगने से मनुष्य को कभी तृप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य को तो वह वस्तु प्राप्त करनी चाहिए जिसको प्राप्त

हिमालय पर्वतों में कैलाश के पास एक देश था जहाँ पर हेमजटा (मने जैसे बालोंवाली) नामक एक जङ्गली जाति रहती थी। इस जाति के लोग किरात भी कहलाते थे। इन किरातों के राजा का नाम सुरघु था। सुरघु महा प्रतापी और बुद्धिमान् राजा था। वह बहुत न्यायपूर्वक राज्य करता था। एक समय उसको इस प्रकार की वेदना हुई कि राज्य के कार्य न्यायपूर्वक करने से भी उसके हाथों से बहुत से लोगों (अपराधियों) को दुःख पहुँचता है, और इस दुःख को देख कर उसका चित्त बहुत ही अनुदुखित होता है। यदि इस दुःख से बचने के लिए वह राज्य छोड़ दे तो उसकी प्रजा अराजकता के कारण नष्टभ्रष्ट हो जायगी। यदि न्याय न किया जाए तो भी दुराचारी लोगों के हाथ से सज्जनों को कष्ट पहुँचेगा। इस प्रकार के असमञ्जस में पड़कर राजा सुरघु बहुत दुःखित हुए।

इस अवसर पर माण्डव्य नामक मुनि उधर को आ निकले। सुरघु ने मुनि को प्रणाम करके उनसे अपनी मनोवेदना की चिकित्सा पूछी। माण्डव्य मुनि ने कहा—हे राजन्! तुम्हारी यह वेदना तब तक शान्त नहीं होगी जब तक तुम आत्मज्ञानी होकर निष्काम भाव से राज्य नहीं करोगे। सांसारिक आधि और व्याधि मनुष्य को उस समय तक कष्ट देती है जब तक कि वह जीवन्मुक्त नहीं होता। जीवन्मुक्त हो जाने पर मनुष्य हर स्थिति में आनन्द और शान्ति का अनुभव करता है।

यह कह कर माण्डव्य मुनि अपने स्थान पर चले गये, और सुरघु ने यह विचार करना आरम्भ किया कि आत्मा क्या है। विचार करते-करते वह इस निश्चय पर पहुँचे कि शरीर, इन्द्रिय और मन आदि में से कोई भी आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब आत्मा के विषय हैं, विकारवान् हैं और सदा अनुभव में आने वाले नहीं हैं। आत्मा का अनुभव सदा अविच्छिन्न रूप से एकरस रहने वाला है। आत्मा का अभाव कोई भी कभी अनुभव नहीं करता, लेकिन इन सब वस्तुओं के अभाव का कभी न कभी अनुभव होता ही रहता है। इसलिये सदा स्वसंवेद्य आत्मा का कभी कभी अनुभव में आने वाले विषय-शरीर, इन्द्रियाँ और मन के साथ अहंभाव होना भ्रममात्र है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन आदि तो परिच्छिन्न वस्तुएँ हैं, किन्तु आत्मा, जो कि चिन्मात्र है, अनन्त और सर्वव्यापक है। कोई वस्तु, देश काल

कुछ दिन पीछे उसके घर पर एक मुसाफिर अतिथि होकर आता है। रात को उसको भोजन कराकर और आराम के लिये योग्य आसन देकर गाधी ने उस यात्री से अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाने की प्रार्थना की। यात्री ने कहा—हे ब्राह्मण, मैंने बहुत देश में भ्रमण किया है पर एक देश में मैंने इतना हृदय-विदारक दृश्य देखा है कि उसका ध्यान करते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं और रोना आता है। यहाँ से बहुत दूर उत्तर दिशा में एक देश है। वहाँ सारी प्रजा और सारी रानियाँ इस कारण अग्नि में प्रवेश कर गईं कि उनको आठ वर्ष तक अज्ञाततया एक चाण्डाल के राज्य में जीवन बिताना पड़ा। चाण्डाल राजा भी दुखी होकर उसी अग्नि में प्रविष्ट होकर नष्ट हो गया। वह दृश्य मैंने इन्हीं आँखों से देखा है। वहाँ से मैं प्रयाग गया और त्रिवेणी में स्नान करके सीधा यहाँ आ रहा हूँ।

गाधी को यह बात सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ और उस घटना स्थान को देखने की प्रबल इच्छा हुई। यात्री को साथ लेकर वे उस राज्य में गए और वहाँ सब बातें उसी प्रकार पाईं जैसे कि उन्होंने अनुभव की थीं। फिर वे किरात देश में गए और वे सब बातें देखीं जो उन्होंने अपने चाण्डाल जीवन में अनुभव की थीं।

इन सब बातों पर विचार करने से उसे ज्ञान हुआ यही माया का स्वरूप है।

२३—उद्दालक की कथा

मनुष्य को शान्ति और आनन्द का अनुभव तभी हो सकता है जब कि वह अपने आपको सत्ता-सामान्य में स्थित कर लेता है। जब तक मनुष्य विकारवान् नाना पदार्थों में अपना अहंभाव रखता है तब तक उसे शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषय पर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को उद्दालक मुनि का उपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है :—

गन्धमादन पर्वत पर उद्दालक नाम का एक युवा मुनि वास करता था। एक समय उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अभी तक उसको शान्ति और आनन्द का अनुभव नहीं हुआ, उसके लिये प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य-जीवन का परम उद्देश्य यही है। इन्द्रियों के भोग भोगने से मनुष्य को कभी तृप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य को तो वह वस्तु प्राप्त करनी चाहिए जिसको प्राप्त

चाहता हुआ भी प्रत्येक जीव उसी की तलाश में है। जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती तभी तक संसार समुद्र में गोते खाने पड़ते हैं। अज्ञान वश जीव अनात्म पदार्थों को आत्मा समझता है, जहाँ आनन्द नहीं है वहाँ पर आनन्द की कल्पना करता है, और यह समझता रहता है कि अमुक वस्तु की प्राप्ति से उसे परमानन्द की प्राप्ति हो जाएगी, किन्तु उस वस्तु के प्राप्त कर लेने पर ही उसे यह मालूम हो जाता है कि ऐसा समझना उसकी भ्रान्ति थी। क्षण भर पीछे ही उसकी फिर वही दशा होती है—किसी दूसरी अप्राप्त वस्तु की ओर उसका मन दौड़ जाता है और वह उसको प्राप्त करने में अग्रसर हो जाता है। प्राप्त हो जाने पर फिर उसे यही मालूम होता है कि उसका विचार ठीक नहीं था। जब तक उसको परमानन्द के यथार्थ स्वरूप का पता नहीं लग जाता और वह उसका अनुभव नहीं कर लेता, तब तक इस प्रकार की भ्रान्तियाँ बराबर होती रहती हैं। इस भ्रान्तिमय जीवन में कभी चैन नहीं मिलती—सदा ही अशान्ति रहती है। इस सम्बन्ध में वसिष्ठ-जी ने रामचन्द्रजी को भास और विलास का उपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है।

सह्याचल पर्वत पर अत्रि मुनि के आश्रम के समीप दो मुनि रहते थे। उनके दो पुत्र भास और विलास नामक थे। उनमें एक दूसरे के प्रति [illegible] निष्ठ प्रेम था। एक दूसरे से कभी भी जुदा नहीं होता था। दोनों का [illegible] हना, खाना, पीना और सोना एक साथ होता था। इस प्रकार र[illegible] रहते उन दोनों के माता पिताओं की मृत्यु हो गई। दोनों ने मि[illegible] मृतक-संस्कार किया। कुछ समय के पीछे दोनों देश-देशान्तर में [illegible] के लिए निकले। दोनों भिन्न दिशाओं में गए और संसार में [illegible], और नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किये। कुछ काल पीछे [illegible] अकस्मात् एक ही स्थान पर आ मिले। एक दूसरे को देखकर उनको बहुत ही आनन्द हुआ। विलास ने भास से पूछा—भाई भास, आज आप बहुत दिन में मिले हो। आप को देखकर मुझे बहुत ही खुशी हुई है। कहाँ इतने दिनों तक कुशल से तो रहे? भास ने उत्तर दिया—भाई विलास! इस संसार में कौन कुशल से है? सदा ही किसी न किसी प्रकार का दुःख लगा रहता है। जब तक मनुष्य को आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक कुशल कहाँ? जब तक परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती तब तक कुशल कहाँ? जब तक मनुष्य

और लोक-लोकान्तर ऐसा नहीं है जो आत्मा से बाहर हो। आत्मा सब में है और सब पदार्थ आत्मा में हैं। सब वस्तु आत्मा का प्रकाश हैं। इस प्रकार सोचते २ सुरघु को आत्मानुभव होने लगा। उसको सब राज्यकार्य करते रहने पर भी आनन्द और शान्ति का भान होने लगा, और सब स्थितियों में समान रहने का अभ्यास हो गया। वह जो कुछ भी करता था निष्काम भाव से अपना धर्म समझ के करता था। हानि और लाभ, यश और अपयश, मोह और शोक उसको किसी प्रकार भी स्पर्श नहीं करते थे। राज्य के सब कार्य यथास्थिति और आवश्यकतानुसार करते रहने पर भी उसके चित्त में पूर्ण शान्ति रहती थी।

एक समय उसके यहाँ उसका मित्र परिघ नामक एक पारसी राजा भ्रमण करता हुआ आ पहुँचा। पारसी नरेश परिघ भी आत्मज्ञानी था। दोनों मित्रों में बड़े प्रेम से आत्म-चर्चा हुई। सबसे उत्तम बात जो सुरघु ने परिघ से कही वह थी समाधि का स्वरूप। राजा परिघ ने सुरघु से पूछा कि क्या आप को कभी समाधि का अनुभव हुआ है। सुरघु ने उत्तर दिया कि कभी क्या उसको हर समय ही समाधि का अनुभव होता है। आत्मज्ञानी जन तो संसार के सब कार्य करते रहने पर भी समाधि में ही रहते हैं, क्योंकि उनकी स्थिति सदा ही आत्मपद में है। उनको सारा जगत् आत्मरूप ही दिखाई पड़ता है, जगत् की कोई घटना उनको आत्मपद से च्युत नहीं कर सकती। सारा जगत उनको आत्मा का ही प्रकाश जान पड़ता है। कोई वस्तु ऐसी नहीं दिखाई पड़ती जो हेय अथवा उपादेय हो। वे जगत् में रहकर सब काम करते हुए भी आत्मपद पर स्थित रहते हैं। यह ही सर्वोत्तम समाधि है। अज्ञानी का मन किसी अवस्था में भी शान्त नहीं होता, ज्ञानी का मन सदा ही और सब प्रकार के कामों में लगे रहने पर भी शान्त और समाहित रहता है। निष्काम कर्म करने, शोक और मोह से रहित रह कर संसार में विचरने और आत्मदृष्टि से सब वस्तुओं को देखने का नाम समाधि है। अतः ज्ञानी सदा ही समाहित रहता है।

२५—भास और विलास का संवाद

जीव का परम उद्देश्य, जीवन का अन्तिम प्राप्य स्थान, मनुष्य का सर्वोत्तम ध्येय, आत्मानुभवस्वरूप परमानन्दमय मुक्ति है। उसको न

जानता हुआ भी प्रत्येक जीव उसी की तलाश में है। जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती तभी तक संसार समुद्र में गोते खाने पड़ते हैं। अज्ञान वश जीव अनात्म पदार्थों को आत्मा समझता है, जहाँ आनन्द नहीं है वहाँ पर आनन्द की कल्पना करता है, और यह समझता रहता है कि अमुक वस्तु की प्राप्ति से उसे परमानन्द की प्राप्ति हो जाएगी, किन्तु उस वस्तु के प्राप्त कर लेने पर ही उसे यह मालूम हो जाता है कि ऐसा समझना उसकी भ्रान्ति थी। क्षण भर पीछे ही उसकी फिर वही दशा होती है—किसी दूसरी अप्राप्य वस्तु की ओर उसका मन दौड़ जाता है और वह उसको प्राप्त करने में अग्रसर हो जाता है। प्राप्त हो जाने पर फिर उसे यही मालूम होता है कि उसका विचार ठीक नहीं था। जब तक उसको परमानन्द के यथार्थ स्वरूप का पता नहीं लग जाता और वह उसका अनुभव नहीं कर लेता, तब तक इस प्रकार की भ्रान्तियाँ बराबर होती रहती हैं। इस भ्रान्तिमय जीवन में कभी चैन नहीं मिलती—सदा ही अशान्ति रहती है। इस सम्बन्ध में वसिष्ठ-जी ने रामचन्द्रजी को भास और विलास का उपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है।

सह्याचल पर्वत पर अत्रि मुनि के आश्रम के समीप दो मुनि रहते थे। उनके दो पुत्र भास और विलास नामक थे। उनमें एक दूसरे के प्रति निष्ठ प्रेम था। एक दूसरे से कभी भी जुदा नहीं होता था। दोनों का [illegible]हना, खाना, पीना और सोना एक साथ होता था। इस प्रकार र[illegible]हते उन दोनों के माता पिताओं की मृत्यु हो गई। दोनों ने मि[illegible] मृतक संस्कार किया। कुछ समय के पीछे दोनों देश-देशान्तर में [illegible] के लिए निकले। दोनों भिन्न दिशाओं में गए और संसार में र[illegible], और नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किये। कुछ काल पीछे [illegible]अकस्मात् एक ही स्थान पर आ मिले। एक दूसरे को देखकर उनको बहुत ही आनन्द हुआ। विलास ने भास से पूछा—भाई भास, आज आप बहुत दिन में मिले हो। आप को देखकर मुझे बहुत ही खुशी हुई है। कहो इतने दिनों तक कुशल से तो रहे? भास ने उत्तर दिया—भाई विलास! इस संसार में कौन कुशल से है? सदा ही किसी न किसी प्रकार का दुःख लगा रहता है। जब तक मनुष्य को आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक कुशल कहाँ? जब तक परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती तब तक कुशल कहाँ? जब तक मनुष्य

इन्द्रियों के विषयों के पीछे सुख की तलाश में दौड़ता रहता है, तब तक कुशल कहाँ? जब तक मन में विषयों के सुखों की वासना रहती है तब तक कुशल कैसी? जब तक बुद्धि सांसारिक रहती और आत्म-विचार नहीं करती तब तक कुशल कहाँ? जब तक मनुष्य जीवन्मुक्त होकर नहीं विचरता तब तक कुशल कैसी? जब तक मनुष्य संसार में निष्काम भाव से अपनी स्थिति-अनुसार धर्म का पालन नहीं करता तब तक कुशल कैसी? जब तक अहंभाव है तब तक कुशल कैसे हो सकती है? जब तक जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक कुशल कैसी? भास को विलास की बात ठीक जान पड़ी और दोनों भाइयों ने मिलकर आत्म विचार करना आरम्भ किया।

२६—वीतहव्य का वृत्तान्त

स्वयं विचार करने से चित्त किस प्रकार शान्त हो जाता है यह बात वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को वीतहव्य की कथा द्वारा समझाई जो इस प्रकार है :—

विन्ध्याचल की कन्दरा में वीतहव्य नामक एक तपस्वी रहता था। उसके मन में सांसारिक विषय-भोगों की बड़ी तीव्र कामना थी इसलिये उसने नाना प्रकार के काम्य कर्म किए और उनके फल भोगे, किन्तु उसके मन में किसी प्रकार तृप्ति न हुई। हमेशा ही किसी न किसी विषय के भोग करने की वासना उसके मन में रहती थी। अपनी इस स्थिति पर विचार करने पर उसे बहुत विषाद हुआ। उसने यह निश्चय किया कि पूर्ण तृप्ति और शान्ति प्राप्त करने का उपाय केवल निर्विकल्प समाधि का अनुभव कर लेना है। यह अनुभव प्राप्त करने के लिये उसने एक पत्तों की कुटी बनाई और उसके भीतर पद्मासन लगाकर बैठ गया, और इस प्रकार विचार करने लगा: -

मैं विषयों के पीछे क्यों दौड़ता हूँ? इसलिये कि मैं समझता हूँ कि अमुक विषय के भोग करने पर मुझे बहुत आनन्द मिलेगा। अनेक प्रयत्न करने पर जब किसी प्रकार वह विषय प्राप्त हो जाता है और उसका भोग किया जाता है तो थोड़े ही काल पीछे यह अनुभव होने लगता है कि हमारा यह ख्याल गलत था कि उन विषय का भोग कर लेने पर हमको परम आनन्द का अनुभव और परम तृप्ति की प्राप्ति होगी। थोड़े ही समय पीछे हमको

इन विषय से घृणा होने लगती है और हम उसका त्याग करना चाहने लगते हैं। यदि इस समय वह विषय हमसे दूर नहीं होता तो उसका सामीप्य ही हमको दुःखदायी प्रतीत होने लगता है। कितने आश्चर्य की बात है कि जो विषय कुछ काल पहले हमको परम आनन्द का उद्गम दिखाई पड़ता था और जिसको प्राप्त कर लेना हम अपने जीवन का ध्येय और सौभाग्य समझते थे, वही विषय प्राप्त हो जाने पर और भोग लेने पर आनन्द रहित और दुःखदायी प्रतीत होने लगता है। इस अनुभव से यह साफ ज़ाहिर है कि कोई भी विषय स्वयं आनन्द अथवा दुःख गुणवाला नहीं है, ऐसा समझना हमारा भ्रम है। किसी विषय में यदि आनन्द होता तो उसके भोग करने पर अथवा प्राप्त कर लेने पर हमको सदा ही आनन्द का अनुभव हुआ करता। किन्तु ऐसा कहीं पर भी देखने में नहीं आता। देखने में तो यह आता है कि जो जो भोग जिस मनुष्य को प्रचुरता से प्राप्त हैं उनमें उसे कोई आनन्द महसूस नहीं होता। वह सदा ही उन विषयों के लिये तरसता रहता है कि जो दूसरों को प्राप्त हैं और उसके पास नहीं हैं। दूसरे लोग उन वस्तुओं को आनन्द-दायक समझते रहते हैं कि जो उसको सुलभतया प्राप्त हैं किन्तु दूसरों के पास नहीं हैं। इसी भ्रम में पड़कर सब जीव संसार-समुद्र में गोते खा रहे हैं। आज यह प्राप्त करता है, कल को इससे घृणा है; कल तो यह प्राप्त करता है, परसों उससे पीछा छुड़ाता है। आखिर इस पृथा उद्योग से मिलता ही क्या है? मनुष्य को इस अनुभव से अपने विचार द्वारा यही सीखना चाहिए कि आनन्द प्राप्ति के लिये विषयों के पीछे दौड़ना भूल है। आनन्द किसी विषय के भोग द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।

ऐसा विचार करने पर श्रीदत्त के मन में विषयों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई। अब उनका मन किसी विषय की ओर नहीं दौड़ता था। यह स्थिति हो जाने पर उन्होंने इन्द्रियों की ओर ध्यान दिया और विचार करना आरम्भ किया कि इन्द्रियों को आत्मा समझना और उनकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताएँ समझना, मनुष्य की बड़ी भारी भूल है। सब इन्द्रियाँ मन और प्राण के साथ सम्बद्ध हुए बिना निष्क्रिय और जड़ हैं। मन यदि इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होकर उनके विषय का भोग नहीं करता तो कोई भी इन्द्रिय

किसी भी विषय का ज्ञान और भोग नहीं प्राप्त कर सकती। ऐसे ही इन्द्रियों की सारी क्रियाएँ प्राण के आधार पर हैं। यदि किसी इन्द्रिय का प्राण-शक्ति के साथ सम्बन्ध न रहे तो उस इन्द्रिय द्वारा कोई क्रिया नहीं हो सकती। मन और प्राण ही इन्द्रियों को चेतना और क्रिया प्रदान करते हैं। स्वयं इन्द्रियां कुछ नहीं कर सकतीं। वे जड़ और अशक्त हैं किन्तु मनुष्य भूल से उनको अपना आत्मा मान बैठता है और उनकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताएँ समझने लगता है। इस प्रकार विचार करने पर वीतहव्य को इन्द्रियों से छुट्टी मिली। अब वह इन्द्रियों और उनके विषयों के वश में न रहा। उसने अपने आत्मभाव को इनसे ऊँचे उठाकर आगे विचारना आरम्भ किया। मन और प्राण भी कदापि आत्मा नहीं हो सकते। मन तो चञ्चल है और प्राण जड़ है, किन्तु आत्मभाव तो सदा ही स्थिर और स्वयं-प्रकाश मालूम पड़ता है। क्या कभी ऐसा हुआ है कि आत्मा के अनुभव में किसी प्रकार का भी विकार मालूम पड़े? जितना विकार है वह सब आत्मा के विषयों में ही होता है। आत्मा जो सब विषयों का साक्षी है सदा ही एक रूप और निर्विकार प्रतीत होता है। यदि वह मन होता तो मन का उसको ज्ञान न होता और उसको यह भी न मालूम पडता कि मन विकारवान् और चञ्चल है। विकारों का ज्ञान तभी हो सकता है जब कि कोई निर्विकार द्रष्टा उनका निरीक्षण करता हो। प्राण जड़ है। वह न अपने आप का अनुभव करता है और न किसी दूसरे विषय का। आत्मा को प्राण का अनुभव होता है और प्राण की शक्ति भी आत्मा के अधीन है। इस प्रकार विचार करने पर वीतहव्य को यह अनुभव होने लगा कि मन और प्राण से परे और इनका द्रष्टा तथा संचालक आत्मतत्त्व है, इसमें ही स्थित होना ठीक है। बुद्धि भी, जो कि मन से कुछ अधिक स्थिर जान पड़ती है, आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धि में भी विकार होते हैं और आत्मा को बुद्धि का ज्ञान होता है। मन और बुद्धि दोनों ही गहरी निद्रा में शान्त हो जाते हैं, किन्तु आत्मा का अनुभव वहाँ पर भी होता है। इसलिये आत्मा बुद्धि से अधिक स्थायी, बुद्धि का द्रष्टा, और गहनतम तत्त्व है। उसमें स्थिति प्राप्त कर लेने पर ही शान्ति का अनुभव हो सकता है।

इस प्रकार विचार करते करते और आत्मतत्त्व का ध्यान करते

करते वीतहव्य को समाधि लग गई। उसकी बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय और शरीर सभी स्थिर हो गए और वह इस स्थिति में बहुत काल तक शिलावत् बैठा रहा। समाधि खुलने पर जब उसकी चेतना जाग्रत् अवस्था में लौटी तो उसको यह मालूम हुआ कि उसके शरीर के ऊपर एक बड़ी भारी बाँबी रची गई है और उसके शरीर और इन्द्रियों में इतनी जड़ता आ गई है कि वह उसको तनिक भी नहीं चला सकता। तब उसकी चेतना भीतर को लौटी और उसने अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा अपने पूर्व जीवन और लोकों का अनुभव किया। १०० वर्ष तक वह कैलाश पर्वत पर एक तपस्वी, १०० वर्ष तक एक विद्याधर, पञ्चयुगों तक इन्द्र और फिर बहुत काल तक गणेश रहा था।

वीतहव्य ने अब यह सोचा कि उसका जड़ और मिट्टी से दबा हुआ शरीर चेतन होकर मिट्टी से स्वतन्त्र हो जाए। इसलिये उसने अपने सूक्ष्म शरीर को सूर्यमण्डल में भेजा और वहाँ से पिङ्गला नामक सूर्य की कला को साथ लाकर उसके द्वारा मिट्टी साफ कराई, और शरीर और इन्द्रियों में पुनः चेतनता और संचलन की उत्पत्ति कराई। अब उसका शरीर पूर्व की नाईं स्वस्थ और चेतन हो गया। जो अनुभव उसने निर्विकल्प समाधि में प्राप्त किया था उसमें अपनी स्थिति करके जाग्रत् अवस्था में ही आत्मभाव से रहने लगा। अब उसका जीवन एक जीवन्मुक्त का जीवन था। न कुछ उसके लिये उपादेय था और न हेय। न किसी वस्तु के प्रति उसको राग था, न घृणा। इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियोचित और शरीर और मन द्वारा शरीर और मन के करने योग्य कर्म वह शान्त रहकर करता था। उसको हर वक्त परमानन्द का अनुभव होता रहता था। इस प्रकार जीवन्मुक्त अवस्था में बहुत समय तक रहकर वीतहव्य के मन में विदेह-मुक्ति की कैवल्य अवस्था में प्रवेश करने का विचार हुआ। यह सोचकर उसने विचार करना आरम्भ किया। अपने संसार और जीवन की एक-एक वस्तु को सम्बोधन करके उसने उनको विदा किया और अपने आपको सबसे निर्मुक्त करके परम शान्त, सत्तासामान्य, तुर्यातीत निर्वाण स्थिति में स्थित करके सदा के लिये शान्त हो गया।

२७—काकभुशुण्ड की कथा

संसार से मुक्त होने के उपाय का नाम योग है। वह दो प्रकार का

किसी भी विषय का ज्ञान और भोग नहीं प्राप्त कर सकती। ऐसे ही इन्द्रियों की सारी क्रियाएँ प्राण के आधार पर हैं। यदि किसी इन्द्रिय का प्राण-शक्ति के साथ सम्बन्ध न रहे तो उस इन्द्रिय द्वारा कोई क्रिया नहीं हो सकती। मन और प्राण ही इन्द्रियों को चेतना और क्रिया प्रदान करते हैं। स्वयं इन्द्रियां कुछ नहीं कर सकतीं। वे जड़ और अशक्त हैं किन्तु मनुष्य भूल से उनको अपना आत्मा मान बैठता है और उनकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताएँ समझने लगता है। इस प्रकार विचार करने पर वीतहव्य को इन्द्रियों से छुट्टी मिली। अब वह इन्द्रियों और उनके विषयों के वश में न रहा। उसने अपने आत्मभाव को इनसे ऊंचे उठाकर आगे विचारना आरम्भ किया मन और प्राण भी कदापि आत्मा नहीं हो सकते। मन तो चञ्चल है और प्राण जड़ है, किन्तु आत्मभाव तो सदा ही स्थिर और स्वयं प्रकाश मालूम पड़ता है। क्या कभी ऐसा हुआ है कि आत्मा के अनुभव में किसी प्रकार का भी विकार मालूम पड़े? जितना विकार है वह सब आत्मा के विषयों में ही होता है। आत्मा जो सब विषयों का साक्षी है सदा ही एक रूप और निर्विकार प्रतीत होता है। यदि वह मन होता तो मन का उसको ज्ञान न होता और उसको यह भी न मालूम पड़ता कि मन विकारवान और चञ्चल है। विकारों का ज्ञान तभी हो सकता है जब कि कोई निर्विकार द्रष्टा उनका निरीक्षण करता हो। प्राण जड़ है। वह न अपने आप का अनुभव करता है और न किसी दूसरे विषय का। आत्मा को प्राण का अनुभव होता है और प्राण की शक्ति भी आत्मा के अधीन है। इस प्रकार विचार करने पर वीतहव्य को यह अनुभव होने लगा कि मन और प्राण से परे और इनका द्रष्टा तथा संचालक आत्मतत्त्व है; इसमें ही स्थित होना ठीक है। बुद्धि भी, जो कि मन से कुछ अधिक स्थिर जान पड़ती है, आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धि में भी विकार होते हैं और आत्मा को बुद्धि का ज्ञान होता है। मन और बुद्धि दोनों ही गहरी निद्रा में शान्त हो जाते हैं, किन्तु आत्मा का अनुभव वहाँ पर भी होता है। इसलिये आत्मा बुद्धि से अधिक स्थायी, बुद्धि का द्रष्टा, और गहनतम तत्त्व है। उसमें स्थिति प्राप्त कर लेने पर ही शान्ति का अनुभव हो सकता है।

इस प्रकार विचार करते करते और आत्मतत्त्व का ध्यान करते

भुशुण्डजी ने मुझे कभी नहीं देखा था तो भी वे अपने आप ही अपनी सर्वज्ञता के कारण समझ गए कि मैं वसिष्ठ हूँ और कुतूहलवश उनके दर्शन करने आया हूं। उन्होंने उठकर मुझे प्रणाम किया और मेरा स्वागत किया। सङ्कल्प द्वारा उन्होंने हाथों की रचना करके वृक्ष के पत्र तोड़ कर मेरे लिये आसन बनाकर मुझ से बैठने की प्रार्थना की। यद्यपि वे सब कुछ समझ गए थे और जानते थे कि मैं किस निमित्त वहाँ पर गया था तो भी मुझ से बोले–हे भगवन्! आपने हम सब को दर्शन देकर कृतार्थ किया। आप कृपा करके आज्ञा दीजिये कि आप की हम क्या सेवा करें? मैंने कहा कि इन्द्र की सभा में चिरञ्जीवियों का वृत्तान्त चलने पर मैंने सुना था कि आप सबसे अधिक चिरञ्जीवी हैं। इसलिए आप कृपया अपने जीवन का वृत्तान्त सुनाइये।

काकभुशुण्डजी बोले—भगवान् शिव के अधिष्ठातृत्व में अनेक गए और शक्तियाँ हैं उनके अनेक नाम और रूप हैं। उन शक्तियों में से एक का नाम अलम्बुसा है। उसका वाहन चण्ड नामक काक है। और शक्तियों की वाहन हंसनियाँ हैं। एक समय सब शक्तियों ने मिल कर उत्सव मनाया। उनके वाहनों ने भी उत्सव मनाया। और मत्त होकर नाच और गाना किया। नाना प्रकार की क्रीड़ा करते करते यहाँ तक हुआ कि वे सब हंसनियाँ चण्ड काक द्वारा, जो कि अलम्बुसा का वाहन था, गर्भवती हो गईं। मेरी माता ब्राह्मी शक्ति का वाहन थीं। जब शक्तियों को यह पता चला कि उनकी वाहन-हंसनियाँ गर्भवती हो गई हैं तो उन्होंने उनको कुछ दिन के लिये छुट्टी दे दी और अपने आप समाधि में स्थित हो गईं। समय आने पर प्रत्येक हंसनी ने तीन तीन अण्डे दिए। जब उनमें से बच्चे निकले तो हमारे पिता चण्ड हम सबको लेकर ब्राह्मी शक्ति के पास गए और उससे हमको आशीर्वाद दिलाया। उसने हमको आशीर्वाद दिया कि हम लोग कभी भी संसार के चक्र में नहीं पड़ेंगे; सदा आत्मभाव में स्थित रहकर जीवन्मुक्त रहेंगे; कभी भी अज्ञान के वश में नहीं होंगे। यह कहकर उस देवी ने हमको इस कल्पवृक्ष पर एकान्त वास करने की सलाह दी। हम लोग यहाँ आकर वास करने लगे। यहाँ पर हम लोग बहुत काल तक वास करते रहे। मेरे और सब भाई अपने सङ्कल्प के कारण विदेहमुक्तता को प्राप्त हो

है। एक चित्तोपशम और दूसरा प्राणनिरोध। प्राणनिरोध द्वारा चित्त का निरोध हो जाता है। और चित्त के शान्त होने पर प्राण का निरोध हो जाता है। चित्तोपशम होने पर आत्मानुभव का उदय हो जाता है। कुछ लोग प्राणनिरोध के मार्ग पर चलकर आत्मानुभव प्राप्त करते और कुछ मनोनिरोध के मार्ग पर। पहिले साधकों को योगी और दूसरों को ज्ञानी कहते हैं। योगियों का वर्णन करते हुए, वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को महायोगी काकभुशुण्डजी की कथा सुनाई जो इस प्रकार है:—

वसिष्ठजी ने कहा—एक समय मैं सूक्ष्म शरीर द्वारा इन्द्र की सभा में गया। वहाँ पर बड़े २ ऋषि और मुनि बैठे थे और नाना प्रकार का वार्तालाप हो रहा था। होते-होते चिरञ्जीवी पुरुषों का वृत्तान्त छिड़ गया। शातातप नाम के मुनि ने कहा—संसार में सब से अधिक चिरञ्जीवी काकभुशुण्ड मुनि हैं। सब ने उत्सुकता से पूछा—वे कौन हैं और कहाँ रहते हैं? शातातप मुनि बोले :—सुमेरु पर्वत की पद्मराग नाम वाली कन्दरा के शिखर पर एक कल्पवृक्ष है। उस वृक्ष की दक्षिण दिशा की डाल पर बहुत से पक्षी रहते हैं। उन पक्षियों में एक महा श्रीमान् कौवा रहता है। उसका नाम भुशुण्ड है। वह वीतराग और महा बुद्धिमान् है। जितने काल से वह जीवित है उतने काल से कोई भी जीवित नहीं है। वह शान्त और जीवन्मुक्त है, उसके साथ बातचीत करने से परम आनन्द का अनुभव होता है और चित्त शान्त हो जाता है। यह बात सुनकर मेरे (वसिष्ठ के) चित्त में काकभुशुण्ड के दर्शन करने की महती उत्कण्ठा हुई। इन्द्रसभा से उठकर मैं सीधा सुमेरु पर्वत की ओर चल दिया। सुमेरु पहाड़ की पद्मरागनाम्नी कन्दरा के शिखर पर पहुंचते ही मुझे कल्पवृक्ष दिखाई पड़ा। उस महा सुन्दर और सब ऋतुओं के फल फूल युक्त वृक्ष के ऊपर नाना प्रकार के पक्षी बैठे आनन्द के राग अलाप रहे थे। आगे बढ़कर मैंने देखा कि उस वृक्ष के एक टहने पर अनेक कौवे बैठे हैं। वे सब के सब अचल और शान्त भाव से बैठे थे और उनके मध्य में एक महा श्रीमान् और कान्तिमान् ऊँची गर्दन किए हुए वह कौवा विराजमान था जो जगत् में सब जीवों से अधिक चिरञ्जीवी है, जिसने अनेक कल्प देखे हैं और जो सदा ही आत्मभाव में स्थित रहता है। मैं आकाश से नीचे उतरा। मुझे देखते ही सब कौवों में खलबली मच गई। यद्यपि काक-

भुशुण्डजी ने मुझे कभी नहीं देखा था तो भी वे अपने आप ही अपनी सर्वज्ञता के कारण समझ गए कि मैं वसिष्ठ हूँ और कुतूहलवश उनके दर्शन करने आया हू। उन्होंने उठकर मुझे प्रणाम किया और मेरा स्वागत किया। सङ्कल्प द्वारा उन्होंने हाथों की रचना करके वृक्ष के पत्र तोड़ कर मेरे लिये आसन बनाकर मुझ से बैठने की प्रार्थना की। यद्यपि वे सब कुछ समझ गए थे और जानते थे कि मैं किस निमित्त यहाँ पर गया था तो भी मुझ से बोले—हे भगवन्! आपने हम सब को दर्शन देकर कृतार्थ किया। आप कृपा करके आज्ञा दीजिये कि आप की हम क्या सेवा करें? मैंने कहा कि इन्द्र की सभा में चिरञ्जीवियों का वृत्तान्त चलने पर मैंने सुना था कि आप सबसे अधिक चिरञ्जीवी हैं। इसलिए आप कृपया अपने जीवन का वृत्तान्त सुनाइये।

काकभुशुण्डजी बोले—भगवान् शिव के अधिष्ठातृत्व में अनेक गण और शक्तियाँ हैं उनके अनेक नाम और रूप हैं। उन शक्तियों में से एक का नाम अलम्बुमा है। उसका वाहन चण्ड नामक काक है। और शक्तियों की वाहन हंसनियाँ हैं। एक समय सब शक्तियों ने मिल कर उत्सव मनाया। उनके वाहनों ने भी उत्सव मनाया। और मत्त होकर नाच और गाना किया। नाना प्रकार की क्रीडा करते करते यहाँ तक हुआ कि वे सब हंसनियाँ चण्ड काक द्वारा, जो कि अलम्बुमा का वाहन था, गर्भवती हो गईं। मेरी माता ब्रह्मा शक्ति का वाहन थीं। जब शक्तियों को यह पता चला कि उनकी वाहन-हंसनियाँ गर्भवती हो गई हैं तो उन्होंने उनको कुछ दिन के लिये छुट्टी दे दी और अपने आप समाधि में स्थित हो गईं। समय आने पर प्रत्येक हंसनी ने तीन तीन अण्डे दिए। जब उनमें से बच्चे निकले तो हमारे पिता चण्ड हम सबको लेकर ब्राह्मी शक्ति के पास गए और उससे हमको आशीर्वाद दिलाया। उसने हमको आशीर्वाद दिया कि हम लोग कभी भी संसार के चक्र में नहीं पड़ेंगे, सदा आत्मभाव में स्थित रहकर जीवन्मुक्त रहेंगे, कभी भी अज्ञान के वश में नहीं होंगे। यह कहकर उस देवी ने हमको इस कल्पवृक्ष पर एकान्त वास करने की सलाह दी। हम लोग यहाँ आकर वास करने लगे। यहाँ पर हम लोग बहुत काल तक वास करते रहे। मेरे और सब भाई अपने सङ्कल्प के कारण विदेहमुक्तता को प्राप्त हो

गए। मैं ही अकेला अभी तक जीवित हूँ। मुझे यहाँ पर रहते-रहते अनेक कल्प बीत गए। समय समय पर प्रलय आता है और फिर सृष्टि की रचना होने लगती है। प्रलय के समय में अपना यह घोसला छोड़ कर धारणा द्वारा अति सूक्ष्म बन जाता हूँ। प्रलयकाल में जब कि १२ सूर्य तप कर भूमण्डल को जलाने लगते हैं, मैं पानी की धारणा करके ऊपर आकाश में चला जाता हूँ। जब बहुत जोर की आँधी चलती है और वृष्टि होती है तो मैं अग्नि की धारणा करके आकाश में स्थित रहता हूँ। जब कि सारी पृथ्वी जलमय हो जाती है तो मैं वायु की धारणा करके जल के ऊपर तैरता हूं। जब सारा ब्रह्माण्ड लय हो जाता है तो मैं सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म में प्रवेश कर जाता हूं, और ब्रह्माण्ड की पुन: सृष्टि तक मैं उसी अवस्था मे रहता हूँ। सृष्टि हो जाने पर मैं फिर अपने इसी घोसले में आकर वास करने लगता हूँ। मेरे संकल्प के कारण यह कल्पवृक्ष प्रत्येक सृष्टि में उदय हो जाता है।

वसिष्ठजी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—आपने इतने बड़े जीवन में क्या क्या देखा ?

भुशुण्डजी बोले—मैंने अनेक आश्चर्य देखे हैं, उनमें से कुछ आप को सुनाता हूँ। एक समय पृथ्वी पर तृण और वृक्ष ही थे, और कुछ न था। एक समय ११ हजार वर्ष तक पृथ्वी पर भस्म के सिवाय कुछ न था। वृक्ष और तृण सब जल गए थे। एक समय ऐसी सृष्टि हुई कि जिसमें सूर्य और चन्द्रमा आदि प्रकाश ग्रह नहीं उपजे थे। केवल सुमेरु पर्वत पर स्थित कुछ रत्नों द्वारा ही प्रकाश होता था। उस समय दिन रात की गति कुछ नहीं जान पड़ती थी। एक समय ऐसा हुआ कि देवताओं और दैत्यों का युद्ध होकर दैत्य लोगों की विजय हुई और केवल ब्रह्मा, विष्णु और शिव को छोड़कर सब देवता उनके अधीन हो गए और सारे संसार में बीस युग तक दैत्यों का ही अचल राज्य रहा। एक बार दो युग तक पृथ्वी पर वृक्षों के सिवाय कुछ न था। एक समय कई युगों तक पृथ्वी पर पर्वतों के सिवाय कुछ न था। एक बार सारे पृथ्वीमण्डल पर जल के सिवाय कुछ नहीं था। महामेरु ही जल में खम्भे की नाईं स्थित था। एक बार विन्ध्याचल पर्वत इतना बड़ा कि सब पर्वतों से बड़ा हो गया और पृथ्वीमण्डल को दबाने लगा। एक समय सृष्टि में न मनुष्य थे और न देवता आदि। एक समय सृष्टि में ब्राह्मणों के आचरण खराब हो

गए थे। वे मद्यपान और दुराचार करते थे और शूद्र लोग राज्य करते थे। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, इन्द्र, उपेन्द्र और लोकपाल मेरे सामने ही अनेक बार नष्ट हुए और उत्पन्न हुए। मैंने भगवान् का हिरण्यकशिपु को मारना और देवताओं और दैत्यों द्वारा समुद्र का मन्थन अपनी आँखों से देखा है। मैंने ऐसी सृष्टियाँ देखी हैं जिनमें विष्णु का वाहन गरुड, शिव का वाहन बैल और ब्रह्मा का वाहन हंस नहीं था। जब सृष्टि उत्पन्न हुई तो, हे वसिष्ठ, आप, भरद्वाज, पुलस्त्य आदि ऋषि उपजे। फिर सुमेरु आदि पर्वत उपजे। आपके आठ जन्म मुझे याद हैं। कभी आप आकाश से उपजे, कभी जल से, कभी अग्नि से, कभी पवन से। बारह बार मैंने समुद्र मन्थन देखा है। तीन बार हिरण्यकशिपु का पृथ्वी को पाताल में ले जाना देखा। छः बार परशुराम का जन्म देखा है। मैंने ऐसे ऐसे समय देखे हैं कि जब कि वेद और पुराणों के अर्थ दूसरी ही तरह लगाए जाते थे। प्रत्येक काल के उपास्य देवता और शास्त्र और शास्त्रप्रवर्त्तक भिन्न भिन्न रूप के देखे। मुझे मालूम है कि वाल्मीकि जी ने १२ बार रामायण की रचना की है। व्यासजी ने मेरे सामने ही सात बार अवतार लिया और कई बार महाभारत की रचना की। मैंने विष्णु भगवान् को भक्तों की रक्षा के हेतु अनेक बार अवतार लेते देखा है। मुझे ११ बार रामचन्द्र रूप से उनका अवतार लेना और १६ बार कृष्ण रूप से भली भाँति याद है। १०० बार मेरे सामने कलियुग में बुद्ध भगवान् का अवतार हुआ है। मेरी आखों के सामने ही दो बार दक्ष प्रजापति का यज्ञ भङ्ग हुआ। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ मैंने देखी हैं। उनका मैं आपसे कहाँ तक वर्णन करूँ। सृष्टि अनेक बार मेरे सामने रची गई और लय हो गई। कभी और और प्रकार की सृष्टि होती है, कभी इसी प्रकार की जैसी कि अब है। कभी इसके सदृश और कुछ भिन्न रूप की होती है। मेरे रहने का स्थान कभी सुमेरु होता है, कभी मंदराचल, कभी हिमालय, और कभी मालयपर्वत। किसी किसी सृष्टि में युगों के नियम का भंग हो जाता है। कलियुग में सतयुग और सतयुग में कलियुग वर्तने लगता है। नाना सृष्टियों में देश, काल, क्रिया, प्रजा, शास्त्र, राज्य, और धर्म नाना प्रकार के ही देखने में आते हैं। एक समय ऐसा हुआ कि ब्रह्मा अपनी आयु के दो दिन पर्यन्त समाधि में रहे और दो कल्प तक सृष्टि की रचना ही नहीं हुई।

वशिष्ठजी को इस कथा को सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। बहुत देर तक फिर काकभुशुण्डजी से उनका ज्ञान और योग सम्बन्धी वार्तालाप हुआ जिसका वर्णन आगे सिद्धान्त खण्डमें किया जाएगा।

२८—ईश्वरोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा वशिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को ईश्वर के सर्वोत्तम स्वरूप और उसकी सर्वश्रेष्ठ पूजा की विधि का उपदेश किया है।

वशिष्ठजी ने कहा—हिमालय का एक शिखर कैलाश नाम का है, वहाँ पर चन्द्रकलाधर भगवान् शिव वास करते हैं। मैंने वहाँ पर कुछ दिन वास करके तप और अध्ययन किया है। एक समय जब कि श्रावण बदी अष्टमी की आधी रात को मैं समाधि से जागा तो देखता हूं कि दशों दिशाएँ मौन और शान्त हैं। महान् अन्धेरा संसार को घेरे हुए है और मन्द मन्द पवन चल रहा है। उसी समय महा शीतल अमृतरूपी किरणों से ओषधियों को पुष्ट करता हुआ चन्द्रमा उदय हो आया। मैं अपनी कुटिया में बैठा हुआ प्रकृति की इस शोभा का आनन्द से निरीक्षण कर रहा था कि यकायक बड़ी तेज रोशनी हुई और सारी प्रकृति चमक उठी। मेरी समझ में नहीं आया कि यह प्रकाश कहाँ से आरहा है। चारों ओर निरीक्षण करने पर पता चला कि भगवान् शिव पार्वती के हाथ में हाथ डाले हुए मेरी कुटिया की ओर चले आ रहे हैं। मैंने दूर से ही मन ही मन में उनका स्वागत किया और उनको आदरपूर्वक प्रणाम किया। उनके निकट आ जाने पर उठकर उनको प्रणाम किया और पाद्य और अर्घ्य दिया और उनके बैठने के लिए आसन बिछाया। महादेव ने बैठते ही मुझसे कुशल पूछी और मुझे आशीर्वाद दिया। मेरे मन में बड़ा आनन्द हुआ। मैंने भगवान् से पूछा—हे प्रभो, आप यदि मेरे ऊपर कृपा रखते हैं तो मुझे बतलाइये कि भगवान का स्वरूप और उनकी सर्वोत्तम प्रकार की पूजा क्या है? शिवजी बोले :—

हे वसिष्ठ! भगवान् का सर्वश्रेष्ठ रूप न विष्णु है, न शिव, न इन्द्र, न पवन, न सूर्य, न अग्नि। वह देव न देहवाला है और न चित्तरूप। असली देव अनादि और अनन्त संवित् है; आकारवान्, परिमित और परिछिन्न कोई वस्तु नहीं है।

यह देव सब जगह सत्ता और असत्ता रूप से वर्तमान है। उसी का नाम शिव है। उसका ही तुम पूजन करो। आकार का पूजन तो उन लोगों के लिए है जो शिव तत्त्व को नहीं जानते। रुद्रादि देवों को पूजने से परिच्छिन्न और परिमित पदार्थों की ही प्राप्ति होती है, परन्तु अनादि और अनन्त आत्मरूप देव के पूजने से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। जो लोग अलौकिक आनन्द को छोड़कर औपाधिक सुखों के पीछे पड़ते हैं वे मन्दार-वन को छोड़कर करञ्जवन में प्रवेश करते हैं। यह ब्रह्म जो कि सारा विश्व है, देवों का देव है। उसी की पूजा करना श्रेष्ठ और श्रेयस्कर है। न वह दूर है और न दुष्प्राप्य। वह सबके भीतर मौजूद है। जो उसको जानते हुए आकारवाले देव की पूजा करते हैं वे बालोचित क्रीड़ा करते हैं। परमकारण भगवान् शिव प्रत्येक जीव के आत्मा हैं और उनके पूजने का तरीक़ा केवल आत्मबोध है। पुष्प धूप दीप आदि वस्तुओं द्वारा भगवान् की पूजा करना बाल-बुद्धिवाले पुरुषों को शोभा देता है, हे वशिष्ठ! आप जैसे ज्ञानी पुरुषों को शोभा नहीं देता। वह देव नित्य और सर्वत्र वर्तमान है, उसके पूजने के लिए आह्वान और मन्त्र की आवश्यकता नहीं है। बोध के सिवाय उसको पूजने की और कोई विधि नहीं है। यह देव ध्यानद्वारा ही पूजा जाता है। ध्यान ही उसका अर्घ्य और ध्यान ही पाद्य; ध्यान ही पुष्प है और ध्यान ही उपहार। ध्यान से ही वह प्रसन्न होता है। सब काम करते हुए, सब भोगों के भोगते हुए, सब स्थितियों में रहते हुए आत्मा का ध्यान करते रहने से ही आत्मा प्रसन्न होता है। आत्मा की अर्चना प्रत्येक मनुष्य हर स्थिति में रहते हुए कर सकता है। अपने देह में स्थित परम शिव का सोते, जागते, चलते, फिरते, उठते, बैठते, खाते, पीते, सब प्रकार के भोगों का भोग करते हुए सदा ही ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से ही जीव का परम कल्याण है।

इस प्रकार शिवजी ने वसिष्ठजी को देवपूजा का स्वरूप बताकर कहा कि अब मैं अपने स्थान पर जाना चाहता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो—यह कहकर वे पार्वती को लेकर अपने स्थान पर चले गए और मेरे मन में सदा के लिए चाँदना कर गये। हे राम! तब से मैं इस प्रकार की ही देवपूजा करता हूँ दूसरे और किसी प्रकार की नहीं।

वशिष्ठजी को इस कथा को सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। बहुत देर तक फिर काकभुशुण्डजी से उनका ज्ञान और योग सम्बन्धी वार्तालाप हुआ जिसका वर्णन आगे सिद्धान्त खण्डमें किया जाएगा।

२८—ईश्वरोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को ईश्वर के सर्वोच्च स्वरूप और उसकी सर्वश्रेष्ठ पूजा की विधि का उपदेश किया है।

वसिष्ठजी ने कहा—हिमालय का एक शिखर कैलाश नाम का है, वहाँ पर चन्द्रकलाधर भगवान् शिव वास करते हैं। मैंने वहाँ पर कुछ दिन वास करके तप और अध्ययन किया है। एक समय जब कि श्रावण वदी अष्टमी को आधी रात को मैं समाधि से जागा तो देखता हूँ कि दशों दिशाएँ मौन और शान्त हैं। महान् अन्धेरा संसार को घेरे हुए है और मन्द मन्द पवन चल रहा है। उसी समय महा शीतल अमृतरूपी किरणों से ओषधियों को पुष्ट करता हुआ चन्द्रमा उदय हो आया। मैं अपनी कुटिया में बैठा हुआ प्रकृति की इस शोभा का आनन्द से निरीक्षण कर रहा था कि यकायक बड़ी तेज रोशनी हुई और सारी प्रकृति चमक उठी। मेरी समझ में नहीं आया कि यह प्रकाश कहाँ से आरहा है। चारों ओर निरीक्षण करने पर पता चला कि भगवान् शिव पार्वती के हाथ में हाथ डाले हुए मेरी कुटिया की ओर चले आ रहे हैं। मैंने दूर से ही मन ही मन में उनका स्वागत किया और उनको आदरपूर्वक प्रणाम किया। उनके निकट आ जाने पर उठकर उनको प्रणाम किया और पाद्य और अर्घ्य दिया और उनके बैठने के लिए आसन बिछाया। महादेव ने बैठते ही मुझसे कुशल पूछी और मुझे आशीर्वाद दिया। मेरे मन में बड़ा आनन्द हुआ। मैंने भगवान् से पूछा—हे प्रभो, आप यदि मेरे ऊपर कृपा रखते हैं तो मुझे बतलाइये कि भगवान का स्वरूप और उसकी सर्वोत्तम प्रकार की पूजा क्या है? शिवजी बोले:—

हे वसिष्ठ! भगवान् का सर्वश्रेष्ठ रूप न विष्णु है, न शिव, न इन्द्र, न पवन, न सूर्य, न अग्नि। वह देव न देहवाला है और न चित्तरूप। असली देव अनादि और अनन्त संवित् है; आकारवान्, परिमित और परिछिन्न कोई वस्तु नहीं है।

हुए उपदेश से अर्जुन का मोह दूर हो जाएगा और वह युद्ध में अपने शत्रुओं को परास्त करेगा। उस घोर संग्राम में बहुत सी प्रजा कट जाएगी और पृथ्वी का भार हलका होगा।

३०—शतरुद्रोपाख्यान

सारा जगत् कल्पनामय है। जीव भी अपनी कल्पना द्वारा ही एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है और अपनी कल्पना द्वारा ही अपने इस बन्धन से मुक्त होता है। जो जैसी कल्पना करता है वैसा ही हो जाता है। वासना और कल्पना जगत् के प्रसार और जीव की भली बुरी गति के रहस्य हैं। इनके द्वारा ही सब कुछ होता है। इस विषय को समझाते हुए वसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी को शतरुद्रोपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है :—

हे रामचन्द्र! प्राचीनकाल में एक बड़ा विचारशील और शुद्ध आचरणवाला तपस्वी रहता था। उसने अपने यत्न और अभ्यास द्वारा समाधि में स्थित होने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। वह अपना सारा समय प्राय समाधि में ही बिताता था। एक दिन, जब कि वह समाधि से उठा ही था, उसके मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह एक विश्व की रचना करे। यह कल्पना मनमें आते ही उसके सङ्कल्प से एक विश्व की रचना हो गई, और उस विश्व में वह जीवट नामका पुरुष हुआ। अब वह अपनी तपस्वीरूप स्थिति को भूलकर अपने कल्पित विश्व में जीवट रूप से विचरने लगा। इस रूप में उसने खूब भोग भोगे; मद्यपान किया, और ब्राह्मणों की सेवा भी की। जीवट को एक दिन सोते समय स्वप्न आया और उस स्वप्नजगत् में उसे अपने ब्राह्मण होने का भान हुआ। अब वह ब्राह्मण रूप में वेद का अध्ययन और पाठ करने लगा। जब ब्राह्मण रूप में उसको कुछ काल बीत गया तो उसे स्वप्न हुआ कि वह एक राजा है और उसके पास बहुत सी सेना और बहुत से नौकर चाकर हैं। उस राजा को एक समय ऐसा स्वप्न हुआ कि वह एक महाप्रतापी चक्रवर्ती राजा है। बहुत काल तक चक्रवर्ती राजा के रूप में रहते हुए उसे एक दिन यह स्वप्न हुआ कि वह एक देवाङ्गना है और देवताओं के बाग में अपने पसन्द किए हुए देवताओं के साथ आनन्द से विहार कर रही है और खूब प्रसन्न है। [illegible] जब कि वह काम-क्रीडा से थककर गहरी निद्रा में लीन थी

२८—अर्जुनोपाख्यान

रामचन्द्रजी को अनासक्त रहकर सब कर्मों को करने का उपदेश देते हुए वसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! भगवान् कृष्ण जिस असक्तता का अर्जुन को उपदेश देंगे उसी प्रकार की असक्तता को प्राप्त करके तुम भी संसार में अपना जीवन सुख से बिताओ। रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से पूछा—यह अर्जुन कब उत्पन्न होगा और भगवान् उसको किस प्रकार की असक्तता का उपदेश देंगे ? वशिष्ठजी बोले :—

भगवान् यम हर एक चतुर्युगी में कुछ काल के लिए तप किया करते हैं। उस अवस्था में वे उदासीन भाव से रहते हैं। अतः यह भूमण्डल अधिक प्राणियों से व्याप्त हो जाता है और रहने योग्य नहीं रहता। उन दिनों पृथ्वी का भार दूर करने के लिए देवता लोग ही आवश्यकतानुसार प्राणियों को मारते हैं। इस समय पितरों का नायक वैवस्वत नामक यम है। इसको कुछ समय बीत जाने पर अपने पापनाश के निमित्त तप करना होगा। उस समय पृथ्वी प्राणियों के भार से दबकर विष्णु भगवान् की शरण में जाएगी। पृथ्वी का भार उतारने के लिए विष्णु भगवान् दो शरीरों (कृष्ण और अर्जुन) में अवतार लेंगे। उनमें एक वसुदेव पुत्र वासुदेव और दूसरा पाण्डु-पुत्र अर्जुन के नाम से प्रसिद्ध होगा। पाण्डु का एक और पुत्र धर्मपुत्र युधिष्ठिर के नाम प्रसिद्ध होगा। उसके चचा का लड़का दुर्योधन होगा। इन दोनों में पृथ्वी को एक दूसरे से छीनने के लिये घोर युद्ध होगा जिसमें १८ अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगी। गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन का रूप धारण करके विष्णु भगवान् उस सेना का नाश करके पृथ्वी का भार उतारेंगे। विष्णु भगवान् का अर्जुन-रूप युद्ध के आरम्भ में हर्ष शोकादि मानव स्वाभाविक दोषों से युक्त होगा और दोनों ओर से सेना में सम्मिलित अपने बन्धुओं और सम्बन्धियों को देखकर उनको मारने के लिए अनुद्यत होकर अपना धनुष नीचे रख देगा, और अपने सारथी श्रीकृष्ण-रूपधारी विष्णु भगवान् से अपने मन की दशा का वर्णन करेगा। श्रीकृष्ण उस समय अर्जुन को आत्मज्ञान का उपदेश देकर उसके मोह को दूर करेंगे और उसको असक्त होकर युद्ध करने की सलाह देंगे। श्रीकृष्ण द्वारा किए

हुए उपदेश से अर्जुन का मोह दूर हो जाएगा और वह युद्ध में अपने शत्रुओं को परास्त करेगा। उस घोर संग्राम में बहुत सी प्रजा कट जाएगी और पृथ्वी का भार हलका होगा।

३०—शतरुद्रोपाख्यान

सारा जगत् कल्पनामय है। जीव भी अपनी कल्पना द्वारा ही एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है और अपनी कल्पना द्वारा ही अपने इस बन्धन से मुक्त होता है। जो जैसी कल्पना करता है वैसा ही हो जाता है। वासना और कल्पना जगत् के प्रसार और जीव की भली बुरी गति के रहस्य हैं। इनके द्वारा ही सब कुछ होता है। इस विषय को समझाते हुए वसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी को शतरुद्रोपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है :—

हे रामचन्द्र! प्राचीनकाल में एक बड़ा विचारशील और शुद्ध आचरणवाला तपस्वी रहता था। उसने अपने यत्न और अभ्यास द्वारा समाधि में स्थित होने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। वह अपना सारा समय प्रायः समाधि में ही बिताता था। एक दिन, जब कि वह समाधि से उठा ही था, उसके मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह एक विश्व की रचना करे। यह कल्पना मनमें आते ही उसके संकल्प से एक विश्व की रचना हो गई, और उस विश्व में वह जीवट नामका पुरुष हुआ। अब वह अपनी तपस्वीरूप स्थिति को भूलकर अपने कल्पित विश्व में जीवट रूप से विचरने लगा। इस रूप में उसने खूब भोग भोगे; मद्यपान किया, और ब्राह्मणों की सेवा भी की। जीवट को एक दिन सोते समय स्वप्न आया और उस स्वप्नजगत् में उसे अपने ब्राह्मण होने का भान हुआ। अब वह ब्राह्मण रूप में वेद का अध्ययन और पाठ करने लगा। जब ब्राह्मण रूप में उसको कुछ काल बीत गया तो उसे स्वप्न हुआ कि वह एक राजा है और उसके पास बहुत सी सेना और बहुत से नौकर चाकर हैं। उस राजा को एक समय ऐसा स्वप्न हुआ कि वह एक महाप्रतापी चक्रवर्ती राजा है। बहुत काल तक चक्रवर्ती राजा के रूप में रहते हुए उसे एक दिन यह स्वप्न हुआ कि वह एक देवाङ्गना है और देवताओं के याग में अपने पसन्द किए हुए देवताओं के साथ आनन्द से विहार कर रही है और खूब प्रसन्न है। एक॰ जब कि वह काम-क्रीडा से थककर गहरी निद्रा में लीन थी

२८—अर्जुनोपाख्यान

रामचन्द्रजी को अनासक्त रहकर सब कर्मों को करने का उपदेश देते हुए वसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! भगवान् कृष्ण जिस असक्तता का अर्जुन को उपदेश देंगे उसी प्रकार की असक्तता को प्राप्त करके तुम भी संसार में अपना जीवन सुख से बिताओ। रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से पूछा—वह अर्जुन कब उत्पन्न होगा और भगवान् उसको किस प्रकार की असक्तता का उपदेश देंगे ? वशिष्ठजी बोले :—

भगवान् यम हर एक चतुर्युगी में कुछ काल के लिए तप किया करते हैं। उस अवस्था में वे उदासीन भाव से रहते हैं। अत: यह भूमण्डल अधिक प्राणियों से व्याप्त हो जाता है और रहने योग्य नहीं रहता। उन दिनों पृथ्वी का भार दूर करने के लिए देवता लोग ही आवश्यकतानुसार प्राणियों को मारते हैं। इस समय पितरों का नायक वैवस्वत नामक यम है। इसको कुछ समय बीत जाने पर अपने पापनाश के निमित्त तप करना होगा। उस समय पृथ्वी प्राणियों के भार से दबकर विष्णु भगवान् की शरण में जाएगी। पृथ्वी का भार उतारने के लिए विष्णु भगवान् दो शरीरों (कृष्ण और अर्जुन) में अवतार लेंगे। उनमें एक वसुदेव पुत्र वासुदेव और दूसरा पाण्डु पुत्र अर्जुन के नाम से प्रसिद्ध होगा। पाण्डु का एक और पुत्र धर्मपुत्र युधिष्ठिर के नाम प्रसिद्ध होगा। उसके चचा का लड़का दुर्योधन होगा। इन दोनों में पृथ्वी को एक दूसरे से छीनने के लिये घोर युद्ध होगा जिसमें १८ अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगी। गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन का रूप धारण करके विष्णु भगवान् उस सेना का नाश करके पृथ्वी का भार उतारेंगे। विष्णु भगवान् का अर्जुन-रूप युद्ध के आरम्भ में हर्ष शोकादि मानव स्वाभाविक दोषों से युक्त होगा और दोनों ओर से सेना में सम्मिलित अपने बन्धुओं और सम्बन्धियों को देखकर उनको मारने के लिए अनुद्यत होकर अपना धनुष नीचे रख देगा, और अपने सारथी श्रीकृष्ण-रूपधारी विष्णु भगवान् से अपने मन की दशा का वर्णन करेगा। श्रीकृष्ण उस समय अर्जुन को आत्मज्ञान का उपदेश देकर उसके मोह को दूर करेंगे और उसको असक्त होकर युद्ध करने की सलाह देंगे। श्रीकृष्ण द्वारा किए

हुए उपदेश से अर्जुन का मोह दूर हो जाएगा और वह युद्ध में अपने शत्रुओं को परास्त करेगा। उस घोर संग्राम में बहुत सी प्रजा कट जाएगी और पृथ्वी का भार हलका होगा।

३०—शतरुद्रोपाख्यान

सारा जगत् कल्पनामय है। जीव भी अपनी कल्पना द्वारा ही एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है और अपनी कल्पना द्वारा ही अपने इस बन्धन से मुक्त होता है। जो जैसी कल्पना करता है वैसा ही हो जाता है। वासना और कल्पना जगत् के प्रसार और जीव की भली बुरी गति के रहस्य हैं। इनके द्वारा ही सब कुछ होता है। इस विषय को समझाते हुए वसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी को शतरुद्रोपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है.—

हे रामचन्द्र! प्राचीनकाल में एक बड़ा विचारशील और शुद्ध आचरणवाला तपस्वी रहता था। उसने अपने यत्न और अभ्यास द्वारा समाधि में स्थित होने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। वह अपना सारा समय प्रायः समाधि में ही बिताता था। एक दिन, जब कि वह समाधि से उठा ही था, उसके मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह एक विश्व की रचना करे। यह कल्पना मनमें आते ही उसके संकल्प से एक विश्व की रचना हो गई, और उस विश्व में वह जीवट नामका पुरुष हुआ। अब वह अपनी तपस्वीरूप स्थिति को भूलकर अपने कल्पित विश्व में जीवट रूप से विचरने लगा। इस रूप में उसने खूब भोग भोगे, मद्यपान किया, और ब्राह्मणों की सेवा भी की। जीवट को एक दिन सोते समय स्वप्न आया और उस स्वप्नजगत् में उसे अपने ब्राह्मण होने का भान हुआ। अब वह ब्राह्मण रूप में वेद का अध्ययन और पाठ करने लगा। जब ब्राह्मण रूप में उसको कुछ काल बीत गया तो उसे स्वप्न हुआ कि वह एक राजा है और उसके पास बहुत सी सेना और बहुत से नौकर चाकर हैं। उस राजा को एक समय ऐसा स्वप्न हुआ कि वह एक महाप्रतापी चक्रवर्ती राजा है। बहुत काल तक चक्रवर्ती राजा के रूप में रहते हुए उसे एक दिन यह स्वप्न हुआ कि वह एक देवाङ्गना है और देवताओं के बाग में अपने पसन्द किए हुए देवताओं के साथ आनन्द से विहार कर रही है और खूब प्रसन्न है। जब कि वह कामक्रीडा से थककर गहरी निद्रा में लीन थी

२८—अर्जुनोपाख्यान

रामचन्द्रजी को अनासक्त रहकर सब कर्मों को करने का उपदेश देते हुए वसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! भगवान् कृष्ण जिस असक्तता का अर्जुन को उपदेश देंगे उसी प्रकार की असक्तता को प्राप्त करके तुम भी संसार में अपना जीवन सुख से बिताओ। रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से पूछा—वह अर्जुन कब उत्पन्न होगा और भगवान् उसको किस प्रकार की असक्तता का उपदेश देंगे ? वसिष्ठजी बोले :—

भगवान् यम हर एक चतुर्युगी में कुछ काल के लिए तप किया करते हैं। उस अवस्था में वे उदासीन भाव से रहते हैं। अत: यह भूमण्डल अधिक प्राणियों से व्याप्त हो जाता है और रहने योग्य नहीं रहता। उन दिनों पृथ्वी का भार दूर करने के लिए देवता लोग ही आवश्यकतानुसार प्राणियों को मारते हैं। इस समय पितरों का नायक वैवस्वत नामक यम है। इसको कुछ समय बीत जाने पर अपने पापनाश के निमित्त तप करना होगा। उस समय पृथ्वी प्राणियों के भार से दबकर विष्णु भगवान् की शरण में जाएगी। पृथ्वी का भार उतारने के लिए विष्णु भगवान् दो शरीरों (कृष्ण और अर्जुन) में अवतार लेंगे। उनमें एक वसुदेव पुत्र वासुदेव और दूसरा पाण्डु-पुत्र अर्जुन के नाम से प्रसिद्ध होगा। पाण्डु का एक और पुत्र धर्मपुत्र युधिष्ठिर के नाम प्रसिद्ध होगा। उसके चचा का लड़का दुर्योधन होगा। इन दोनों में पृथ्वी को एक दूसरे से छीनने के लिये घोर युद्ध होगा जिसमें १८ अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगी। गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन का रूप धारण करके विष्णु भगवान् उस सेना का नाश करके पृथ्वी का भार उतारेंगे। विष्णु भगवान् का अर्जुन-रूप युद्ध के आरम्भ में हर्ष शोकादि मानव स्वाभाविक दोषों से युक्त होगा और दोनों ओर से सेना में सम्मिलित अपने बन्धुओं और सम्बन्धियों को देखकर उनको मारने के लिए अनुद्यत होकर अपना धनुष नीचे रख देगा, और अपने सारथी श्रीकृष्ण-रूपधारी विष्णु भगवान् से अपने मन की दशा का वर्णन करेगा। श्रीकृष्ण उस समय अर्जुन को आत्मज्ञान का उपदेश देकर उसके मोह को दूर करेंगे और उसको असक्त होकर युद्ध करने की सलाह देंगे। श्रीकृष्ण द्वारा किए

सब जीव रुद्र बने और कल्प का अन्त होनेपर सब को विदेह मोक्ष की प्राप्ति हुई।

रामचन्द्रजी ने पूछा—हे भगवन्! यह आश्चर्य मय घटना कैसे हुई? वसिष्ठजी ने कहा—हे राम! मन में जो संकल्प होता है वही [illegible]

पदार्थ भी संकल्प करने लगते हैं। अज्ञानियों का संकल्प बाह्य वस्तुओं द्वारा नियमित होता है, ज्ञानियों का अपने विचार द्वारा। इस कथा में ब्राह्मण ने राजा का रूप इस लिये धारण किया था कि वह राज-भोगों की इच्छा करने लगा था। राजा चक्रवर्ती राजा इसलिये ना कि उसने उस रूप में ज्यादा आनन्द समझा था। चक्रवर्ती राजा े सुन्दर स्त्रियों के भोग की कामना रहती थी, इसलिये वह देवाङ्गना ना। देवाङ्गना हरिणी इस वास्ते बनी कि उस में हरिणी की जैसी आँखों की वासना थी। हरिणी बेल इसलिये बनी कि उसको सदा उसी ी चाहना थी। बेल इस कारण भ्रमर बनी कि उस की वृत्ति भ्रमर रूप र स्थिर हो गई थी। भ्रमर कमलिनी इस वास्ते बना कि उसके मन ें सदा ही कमलिनी का ध्यान रहता था। कमलिनी हाथी इसलिये नी कि हाथी ने जब उस को तोड़ा तो उसकी वृत्ति में हाथी का ही रूप स्थिर था। इसी प्रकार, हे राम, जो जिस रूप का ध्यान करता है वह उसी रूप को धारण करेगा। यह अटल नियम है। जो जिस वस्तु को निरन्तर चाहता है, या जिस वस्तु का जिस को ध्यान रहता है, वह अवश्य ही वही हो जाता है। योगियों और शुद्ध मन वालों का संकल्प शीघ्र ही सिद्ध होता है। योगी लोग अपने आप अपनी अवस्था में स्थित रहते हुए भी अनेक रूप धारण कर लेते हैं। विष्णु भगवान् क्षीर समुद्र में रहते हुए ही पृथ्वी मंडल पर अवतार लेकर भूमि का भार उतारते हैं। सहस्रबाहु ने घर पर बैठे-बैठे यह कल्पना की कि वह मेघ होकर बरसे। वहाँ पर तो वह राजा के रूप में रहा और दूसरी जगह मेघ रूप से बरसने लगा। वह अपने घर बैठा हुआ अपने राज्य में चोरादि दुष्टजनों को पकड़ कर उनको दण्ड दे देता था।

तो उसे स्वप्न में यह अनुभव हुआ कि वह एक हरिणी है। हरिणी रूप से वह वन में विचरने लगी। हरिणी ने एक दिन स्वप्न में अपने आपको एक हरी और कोमल बेल के रूप में पाया। वल्ली के मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह एक भ्रमर है और भ्रमर रूप से नाना प्रकार के पुष्पों और बेलों का रस पान कर रही है। भ्रमर को एक समय स्वप्न आया कि यह कमलिनी है। एक समय एक हाथी ने उस कमलिनी को तोड़कर खा लिया। उस कमलिनी के हृदय में उस समय यह कल्पना उदय हो आई कि वह एक हाथी है। इस प्रकार नाना रूप धारण करते हुए वह ब्रह्मा का हंस बना। ब्रह्मा ने उसको उपदेश दिया जिसके द्वारा उसे आत्मज्ञान हुआ। एक समय वह हंस सुमेरु पर्वत पर उड़ा हुआ जाता था। वहाँ पर उसने रुद्रों को देखा और उसके मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह रुद्र बने। निदान वह एक रुद्र बन गया। रुद्र रूप में उसे महाज्ञान हो गया और अपने पूर्ण ज्ञान के द्वारा उसको अपने पूर्व जन्मों का भी स्मरण हो आया। उसे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह अब भी तापस रूप से उसी स्थान पर बैठा हुआ अपने कल्पना जगत् का अनुभव कर रहा है। और इसी प्रकार वह अपने शत (सौ) रूपों में वर्त्तमान है। उसने सोचा कि अब वह अपने सब रूपों को, जो कि उसने नाना कल्पना-जगतों में ग्रहण किए हैं, जगाए और उन सबको तत्वज्ञानी बनाकर मुक्त कराए। यह सोचकर वह उस स्थान पर पहुँचा जहाँ कि वह तपस्वी के रूप में अपने कल्पना जगत् की रचना कर रहा है। वहाँ पर पहुँचकर उसने तपस्वी को जगाया। तपस्वी को जागने पर ज्ञान हुआ कि अभी उसके कल्पित विश्व में उसके अनेक रूप वर्त्तमान हैं। रुद्र और तपस्वी दोनों ने जीवट को सोते से जगाया। तीनों ने मिलकर वेदपाठी ब्राह्मण को। चारों ने मिलकर राजा को। पाँचों ने चक्रवर्ती राजा को। इस प्रकार होते होते रुद्र के समस्त १०० रूप जाग गए। रुद्र को अपने १०० रूप में वर्त्तमान होकर बड़ा आश्चर्य हुआ। तब रुद्र ने अपने सब रूपों को कहा कि तुम सब अपने अपने स्थान को जाओ और जब तक ये सब शरीर हैं तब तक इन सब शरीरों के योग्य भोगों को वासना और कामनारहित होकर भोगो। शरीर-पात होने पर तुम सब रुद्र रूप में आ जाओगे। इन सब शरीरों का अन्त होने पर वे

वेताल की समझ में साधु की बात आ गई। उसने सोचा कि मनुष्य यदि सचमुच में मनुष्य अर्थात् मननशील और ज्ञानवान् जीव है, तो अवश्य ही उसे मारना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसे मनुष्य से किसी दूसरों की हानि नहीं पहुँचती, बल्कि उपकार होता है। लेकिन मूर्ख मनुष्य से तो पशु ही कहीं भले -क्योंकि उनसे दूसरे जीवों को इतनी हानि नहीं पहुँचती जितनी कि मूर्ख मनुष्यों से। इसलिये वेताल ने यह सोचा कि अब वह अज्ञानी मनुष्यों का ही भक्षण करेगा ज्ञानी मनुष्यों का नहीं। कौन ज्ञानी है कौन अज्ञानी—इस बात को जानने के लिये उसने एक प्रश्नावली तय्यार की। एक समय कई दिन का भूखा वेताल अपना पेट भरने के लिये रात्रि में बाहर निकला। उसकी उस देश के राजा से भेंट हो गई जो कि रात्रि को अपने राज्य में वीर-यात्रा कर रहा था। वेताल ने राजा से ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी कई प्रश्न इस बात की जाँच करने के लिये पूछे कि वह अज्ञानी है या ज्ञानी। राजा ब्रह्मज्ञानी था—उसने वेताल के सब प्रश्नों का तृप्तिजनक उत्तर दे दिया। वेताल को बड़ा आनन्द हुआ और वह एकान्त में जाकर समाधि में स्थित हुआ, और आत्म-पद को प्राप्त करके वेताल शरीर को त्यागकर मुक्त हो गया। इस प्रकार ज्ञानीजन अपनी रक्षा और दूसरों का उद्धार करते हैं।

३२—भगीरथोपाख्यान

संसार में किस प्रकार निर्मम, निरपेक्ष और अनासक्त भाव से मुक्त जीवन बिताना और यथास्थिति संसार के सभी काम करना चाहिए—इस सम्बन्ध में श्री वसिष्ठजी ने श्री रामचन्द्रजी को भगीरथ की कथा सुनाई जो इस प्रकार है:—

राजा भगीरथ की जब युवा अवस्था थी उसके मन में यह विचार उदय हुआ कि यह जीवन सर्वथा ही असार है। दिन पर दिन वे ही भोग भोगे जाते हैं किन्तु कभी तृप्ति नहीं होती। कोई ऐसा सुख नहीं है जो दुःखरहित हो। कोई ऐसा भोग का विषय नहीं है जो भोगने पर उतना ही अच्छा जान पड़े जितना कि वह प्राप्त होने से पूर्व प्रतीत होता है। संसार में कोई वस्तु भी सार नहीं दिखाई पड़ती। धन, दारा और पुत्र, जिनमें हमारी इतनी अधिक ममता है, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसको प्राप्त कर लेने पर हमारे मन में शान्ति और

योगिनीजन स्वर्ग लोक में रहती हैं तो भी पृथ्वी पर दिखाई पड़ती हैं। इन्द्र स्वर्ग के आसन पर स्थित रहते हुए भी पृथ्वी पर यज्ञ का भाग लेने के लिये आते हुए दिखाई देते हैं। कृष्ण भगवान् सहस्रों रूप से अपनी सहस्रों रानियों को प्रसन्न किया करते हैं।

रामचन्द्रजी ने पूछा—हे भगवन्! क्या और कोई पुरुष भी ऐसा है जो इस समय ही अनेक रूपों में वर्त्तमान हो। वसिष्ठजी बोले—आज रात को मैं समाधि में बैठकर देखूँगा कि इस समय शक्रद्र की नाईं किसी पुरुष का अनुभव है अथवा नहीं। कल तुम को बतलाऊँगा। अगले दिन वसिष्ठजी ने कहा कि उत्तर दिशा में यहाँ से बहुत दूर जिन नामक एक देश है। वहाँ पर दीर्घदृक् नाम का एक तपस्वी है। आज उसे २१ दिन समाधि में बैठे हो गए हैं। उसने इतने समय में सहस्रों जन्मों का अनुभव कर लिया है और वे सब जन्म उसको एक साथ ही प्रत्यक्ष हो रहे हैं, और वह उन सब जन्मों में इस समय विचरण कर रहा है। इतना सुनकर राजा दशरथ ने कहा कि यदि ऐसा है तो मैं अपने दूत भेजकर उस देश में उस योगी का पता चलवा कर उस को जगवाऊँ। वसिष्ठजी बोले—हे राजन्! इस समय वह योगी ब्रह्म का हंस बनकर जीवन्मुक्त हो गया है और उसका भौतिक देह मृतक हो गया है। यह बात उसके शिष्यों को भी अभी मालूम नहीं है। इसलिये अब उसको जगाया नहीं जा सकता। जब कुछ दिन बाद उसके शिष्य उसका द्वार खोलेंगे तो उसको मरा हुआ पाएँगे। रामचन्द्रजी को यह सब सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ।

३१ वेतालोपाख्यान

आत्मज्ञानी को संसार में कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता—इस बात को समझाते हुए वसिष्ठजी ने श्री रामचन्द्रजी को वेतालोपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है:—

दक्षिण दिशा में मन्दराचल पर्वत की एक कन्दरा में महा भयानक आकार वाला एक वेताल रहता था। वह मनुष्यों को खा कर अपना पेट भरता था। एक समय उसके सामने एक साधु आ गया। उसको भी उसने मार कर खाना चाहा, किन्तु साधु ने उसे यह समझाया कि मनुष्यों को मार कर पेट भरना बड़ा भारी पाप है जिसका बुरा और दुःखदायी परिणाम उस को भुगतना पड़ेगा।

निकलकर वन में विचरने लगा। वहाँ पर विचरते-विचरते आत्म-चिन्तन और आत्मध्यान करते करते उसको आत्मज्ञान हो गया, और परम आनन्द और परम शान्त आत्मपद में उसकी अविचलित रूप से स्थिति हो गई। अब उसको न किसी वस्तु की इच्छा थी, और न किसी से द्वेष था। सारे जगत् को वह आत्ममय ही देखता था। किसी के प्रति न उसे मोह था और न घृणा। सबसे समता और प्रेम का व्यवहार था। अब उसको संसार में और वन में रहना एक सा ही था। उसने देश देशान्तर में भ्रमण करना आरम्भ किया। एक समय वह भ्रमण करता हुआ उस देश में गया जहाँ का वह कभी राजा था। वहाँ उसने भिक्षा माँगी, और ऐसा करने पर उसके मन में किसी प्रकार का भी विकार नहीं आया। लोगों के बहुत कहने पर भी उसने राज्य करने की ज़रा भी इच्छा न की। भ्रमण करते करते उसकी अपने गुरु त्रितुल से भेंट हो गई और कुछ कालतक खूब आत्म-चर्चा हुई। स्वर्गलोक से सिद्धों ने आकर उसकी पूजा की और देवताओं ने सब प्रकार के ऐश्वर्य उसको देना चाहा किन्तु उसने किसी की भी इच्छा न की। बहुत सी अप्सराएँ उसके सामने आकर उसको प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगीं किन्तु उसके मन में किसी भी भोग की अभिलाषा उदय न हुई, क्योंकि उसकी स्थिति उस परम आनन्द में थी जिसके आगे संसार के सब सुख लेशमात्र हैं।

एक समय जब कि भगीरथ एक देश में भ्रमण कर रहा था, उस देश के राजा का देहान्त हो गया था। मन्त्री और प्रजा किसी सुयोग्य राजा की तलाश में फिर रहे थे। साधु के वेष में भगीरथ को देखकर मंत्री ने उसके लक्षणों से पहिचान लिया कि यह पुरुष राजा बनाने योग्य है। उसने भगीरथ से राजा बनने की प्रार्थना की। भगीरथ ने लोकोपकार के लिये, अपनी किसी प्रकार की हानि या लाभ न जानते हुए राजा होना स्वीकार कर लिया– और अति उत्तम रीति से राज्य किया। भगीरथ के राजा होने की खबर दूर तक फैल गई। इस समय उस राज्य की जिस पर वह पहिले राज्य करते थे बड़ी खराब दशा थी। चारों ओर से शत्रुओं ने आक्रमण कर रक्खा था। वहाँ की प्रजा ने दुखी होकर भगीरथ के पास खबर भेजी। भगीरथ ने शत्रुओं को भगाकर अच्छा राज्य स्थापित किया। दोनों राज्यों पर निःसङ्ग और

सुख का अनुभव होता हो। तब फिर किस लिये हमलोग इन वस्तुओं के पीछे पड़े रहते हैं? क्यों इनकी प्राप्ति में ही अपने जीवन की सब शक्ति लगाते हैं? इसलिये कि हमने कभी इनकी असारता पर विचार ही नहीं किया है। विचार उदय हो जाने पर ये सब वस्तुएँ असार और विषवत् जान पड़ती हैं। भोगों में सुख और शान्ति—जिनकी हम सबको चाह है—तलाश करना ऐसा ही है जैसा कि मृगतृष्णा के जल से प्यास बुझा लेने की आशा।

इस प्रकार विचार करते करते राजा को संसार के भोगों से प्रति घृणा हो गई और अपना परम और सत्य ध्येय जानने की इच्छा हुई। इस अवस्था में वे अपने गुरु त्रितुल ऋषि के आश्रम पर गए। अपने मन के विचारों को भगीरथ ने गुरु के समक्ष रक्खा। त्रितुल भगीरथ के विवेक और वैराग्य को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—परम आनन्द और परम शान्ति, जो कि मनुष्य-जीवन के उद्देश्य हैं, विषय भोगों के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकते। उनके प्राप्त करने के लिये सब विषयों का और उनके भोगों का त्याग करना चाहिये। देह और इन्द्रियों में आत्माभिमान, स्त्री पुत्रादिक में सङ्ग, इष्ट की इच्छा और अनिष्ट से द्वेष—ये सब त्यागकर आत्मचिन्तन, आत्मध्यान और आत्मपद में स्थिति के लिये प्रयत्न करने से ही परमानन्द और परम शान्ति की सिद्धि होती है। जो जिस वस्तु की तीव्र वासना करता है वह उसी को प्राप्त करता है—इसलिये भोगों के विषयों की वासना का त्याग करके आत्म-पद के प्राप्त करने की वासना करो। उस पद को प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ प्राप्त करना नहीं रहता। इस पद में स्थित होने पर कोई दुःख नहीं रहता। उस पद में स्थित होने पर उस अक्षय और अनन्त आनन्द का अनुभव होता है जिसके आगे संसार के सब सुख कुछ भी नहीं। क्षण भर भी उस आनन्द का अनुभव कर लेने पर मनुष्य संसार के सब सुखों को—जिनका परिणाम सदा ही दुःख है—भूल जाता है।

त्रितुल ऋषि की यह बातें सुनकर भगीरथ ने आत्मपद प्राप्त करने का पक्का इरादा कर लिया। घर आकर सब ओर से ध्यान हटाकर आत्मचिन्तन करने लगा और धीरे-धीरे सब वस्तुओं का त्याग करने लगा। थोड़े ही समय में उसने अपने सब धन, और राज्यपाट का त्याग कर दिया। केवल एक धोती और अंगोछा लेकर घर से

लिये है कि सदा ही वह शरीर और इन्द्रियों के सुखों के अनुभव करने में लगा रहे और फिर भी उसको किसी स्थायी सुख, किसी प्रकार की तृप्ति और शान्ति का अनुभव न हो ? विषयों के द्वारा उत्पन्न होनेवाले सभी सुख क्षणिक और दुःख में परिणत होनेवाले हैं। कौन सा ऐसा सुख है जो चिरस्थायी हो ? जो भोग प्राप्त नहीं हैं उनकी इच्छा होती रहती है, जो प्राप्त हैं उन में सुख का अनुभव नहीं होता, बल्कि उन से घृणा होने लगती है। क्या कोई ऐसा सुख नहीं है जो स्थायी हो, जिसको प्राप्त कर लेने पर वह सदा ही बना रहे और उस से कभी घृणा न हो ? क्या कोई ऐसी तृप्ति भी है- जिसको प्राप्त कर लेने पर फिर किसी विषय के भोग की वासना न रह जाए ?

यह सोचकर उनको संसार के सब विषय और भोगों से विरक्ति हो गई, और उन्होंने अपने राज्य के बड़े बड़े विद्वानों को बुलाकर यह पूछा कि मनुष्यों के जीवन का क्या लक्ष्य है और उसको कैसे शान्ति और तृप्ति प्राप्त हो सकती है ? विद्वानों ने कहा—महाराज ! आत्मज्ञान हो जाने पर मनुष्य को परम शान्ति और परम तृप्ति का अनुभव होता है; वही प्राप्त कर लेना मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। आत्मज्ञान में स्थित हो जानेपर ही परमानन्द का अनुभव होता है। उस आनन्द के सामने ससार के सब विषयों के भोग के सुख कुछ भी नहीं हैं। आत्मपद में स्थित मनुष्य सदा ही तृप्त और सुखी रहता है। वह न किसी वस्तु को प्राप्त करने की वाञ्छा करता और न किसी से घृणा करता है।

राजा और रानी दोनों ने आत्मज्ञान प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। रानी राजा से अधिक बुद्धिमती, चतुर और उद्योगशील थी। उसका विचार सूक्ष्म और निश्चयात्मक था। थोड़े ही समय में उसे आत्मज्ञान हो गया। आत्मज्ञान होने पर उसके मुख पर प्रसन्नता और अलौकिक सौंदर्य की झलक आ गई। दिन पर दिन उसका सौंदर्य, तेज और आनन्द बढ़ने लगा। अभी राजा को आत्मज्ञान नहीं हुआ था। वह न समझ सका कि रानी इतनी प्रसन्न और प्रफुल्लित क्यों रहती है। रानी ने राजा को बतलाया कि उसके हृदय में अलौकिक आनन्द का प्रकाश हो गया है। अब उसे सारा जगत् आनन्दमय ही दिखाई दे रहा है। राजा की समझ में रानी की बात नहीं आती थी। क्योंकि जिसने आत्मानन्द का स्वयं अनुभव नहीं किया वह नहीं जान सकता कि आत्मानन्द क्या है। रानी ने अपने स्वामी को आत्मा-

निर्मोह रूप से राज्य करता रहा। राज्य करते करते एक समय उसको यह ख्याल आया कि उसके साठ हजार पितर, कपिल ऋषि के भस्म किए हुए, अभीतक सद्गति को प्राप्त नहीं हुए; उनको सद्गति तभी प्राप्त हो सकती है जब कि भूमण्डल पर गङ्गा बहने लगे। यह सोचकर उसने तप किया और तप के प्रभाव से वह श्री गङ्गाजी को पृथ्वीमण्डल पर ला सका जिसकी कथा सब लोग जानते हैं। आत्मस्थित पुरुष ही संसार में दुष्कर से दुष्कर कार्य कर सकते हैं।

२३—रानी चुडाला की कथा

चुडाला का उपाख्यान भी योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानों में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने श्री रामचन्द्रजी को यह बतलाया है कि आत्मज्ञान प्राप्त करने और योगाभ्यास करके सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने में स्त्रियों का उतना ही अधिकार है जितना कि पुरुषों का। आध्यात्मिक सिद्धि केवल पुरुषों का ही ध्येय नहीं है बल्कि प्राणिमात्र का। यदि स्त्री की आत्मज्ञान में स्थिति हो जाए तो वह पुरुषों को इसी प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त करा सकती है जैसे कि एक पुरुष दूसरे को। इस उपाख्यान द्वारा रामचन्द्रजी को वसिष्ठजी ने आत्मपद प्राप्ति का सच्चा मार्ग और आत्मज्ञानी के रहन सहन का ढङ्ग भी दिखलाया है। उपाख्यान इस प्रकार है :—

पहले द्वापर युग में मालव देश में शिखिध्वज नाम का एक बहुत सुन्दर, बलवान् और प्रतापी राजा राज्य करता था। उसका विवाह सुराष्ट्र देश की एक राजकन्या से, जो कि बहुत सुन्दर, विदुषी और चतुर थी, हुआ था। रानी का नाम चुडाला था। राजा और रानी में एक दूसरे के प्रति घनिष्ट प्रेम और आकर्षण था। दोनों ही अपनी युवा अवस्था में थे। किसी प्रकार के सुख की कमी नहीं थी। खूब आनन्द से जीवन के सभी प्रकार के भोग भोगते थे। दोनों ही विचारशील थे। सब प्रकार भोग भोगते भोगते उनके मन में यह विवेक उत्पन्न हुआ कि हमारे पास संसार का सारा ऐश्वर्य और सारे भोगों को भोगने के साधन हैं। हमलोग सब प्रकार के भोगों का बार बार आस्वादन कर चुके हैं। इनके भोगने में हमारा बहुतसा जीवन व्यतीत हो चुका है और शरीर की शक्ति भी क्षीण होती जा रही है, किन्तु हृदय में तृप्ति और शान्ति नहीं है। क्या मनुष्यजीवन इसी

चित इच्छाएँ होती हैं, और मेरे शरीर में काम का वेग इतना अधिक हो जाता है कि बिना पुरुष के सङ्ग किए मैं दुःखी रहती हूँ। राजा ने कहा—जब तक शरीर है और इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं, अवश्य ही शरीर और इन्द्रियों के स्वाभाविक भोगों के भोगने की आवश्यकताएँ रहती हैं; ज्ञानी मनुष्य को उनका विरोध करना और उनको बलपूर्वक दबाना नहीं चाहिए। शरीर और इन्द्रियों के उचित आवश्यकतानुसार भोगों के भोगने से आत्मा की क्या हानि और न भोगने से आत्मा का क्या लाभ? इसलिये, हे कुम्भज! यदि स्त्री-रूप में आपको स्त्री-सम्बन्धी इच्छा होती है तो यह स्वाभाविक ही है। इसलिये तुम किसी अपने मन को पसन्द आने वाले योग्य पुरुष की तलाश कर लो और उसकी पत्नी बन जाओ; ताकि तुम्हारा मन शान्त रहे और शरीर का वेग तुमको चंचल न बनावे। कुम्भज बोला—महाराज आप मेरे सबसे प्रिय मित्र हैं, आपकी और मेरे मन की वृत्ति एक सी ही है आपको मेरा प्रेम है और मुझे आपका प्रेम है। विद्वान् लोग यह कहते हैं कि जो सुख समान मनोवृत्ति वाले स्त्री-पुरुषों के सङ्ग रहने में होता है वह संसार के सब आनन्दों से बढ़कर है। इसलिये यदि मेरे लिये संसार में कोई भी उचित पति है तो आप हैं। राजा ने कहा यदि तुम ऐसा समझते हो तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मेरी इसमें न कोई हानि है और न कोई लाभ। ऐसा होने से यदि तुमको सुख मिलता है तो ऐसा ही सही। पूर्णमासी को सायंकाल में मदनिका (जो कि कुम्भज के स्त्री-रूप का नाम था) और राजा ने अपना शास्त्र की विधि से विवाह कर लिया; और अब वे दोनों रात्री में पति और पत्नी के रूप में रहने लगे। लेकिन राजा के मन में किसी प्रकार का भी विकार न उत्पन्न हुआ। आत्मा में वही शान्ति और परम आनन्द रहता था। शरीर और इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वाभाविक कार्य करते थे। उनको इनमें ज़रा भी आत्माभिमान न था। रानी को यह देखकर कि अब राजा की आत्मपद में निश्चल स्थिति है बड़ी प्रसन्नता हुई। इस बीच में भी वह अपने राज्य की देख भाल करती रहती थी। सूक्ष्म शरीर द्वारा वह अपने राज को पद आया करती थी और कर्मचारियों के कार्यों की देखभाल कर लिया करती थी।

अब उसने राजा के जीवन्मुक्त होने की एक और परीक्षा ली। उसने अपने योगबल से स्वर्गलोक के स्वामी इन्द्र की रचना की।

अनेक प्रकार की बातें सुनाईं और साधन की विधियाँ बतलाईं। राजा को धीरे धीरे आत्मज्ञान होने लगा। आत्मज्ञान के परिपक्व हो जाने पर उसकी स्थिति आत्मभाव में हो गई, और वह जीवन्मुक्त हो गया। अब उसके मुख पर सदैव प्रसन्नता रहती थी। हर्ष और शोक से वह परे था। किसी कारण से भी उसकी शान्ति भङ्ग नहीं होती थी। हर हालत में वह खुशहाल रहता था। उसके लिये अब न कुछ हेय था और न उपादेय। वह सदा आत्मानन्द में मग्न रहता था। संसार के किसी सुख की न उसे वासना थी और न किसी दुःख से वह दुखी होता था।

रानी ने अब उसकी परीक्षा करनी चाही। एक दिन कुम्भज बड़ा दुःखी और शोकातुर होकर राजा के पास आया। राजा ने पूछा, मित्र! आज आपका मन क्यों इतना उदास है? आप तो आत्मज्ञानी हैं, आपको शोक क्यों हुआ? कुम्भज बोले, महाराज! क्या कहूँ मुझे कहते भी लाज मालूम पड़ती है। मैं जब देवलोक से आपके पास चला आ रहा था तो मुझे दुर्वासा ऋषि नाना प्रकार के भूषण और वस्त्र धारण किए हुए रास्ते में मिले। मुझे उनका विचित्र वेष देखकर हँसी आ गई, और हास्य भाव से मैंने कहा कि महाराज आप तो आज स्त्री मालूम पड़ते हैं। यह सुनकर उनको क्रोध आ गया, और उन्होंने मुझे शाप दे दिया कि मैं प्रत्येक रात को स्त्री बन जाया करूँगा। मुझे इस बात से इतनी लज्जा मालूम पड़ती है कि मेरा चित्त अब देवलोक को भी जाने को नहीं करता। आज से शापवश रात्री में मुझे स्त्री होना पड़ेगा। महाराज! यही कारण है जिससे मैं दुःखी हूँ। राजा ने कहा, ऋषे! इसमें क्या हानि है? पुरुष हुआ तो क्या, और स्त्री हुई तो क्या? दोनों ही एक समान हैं। न कोई बुरा है और न कोई भला। शरीर ही तो स्त्री या पुरुष है, न कि आत्मा। जो जिस स्थिति में होता है उसको उसी में प्रसन्न रहना चाहिए। स्त्री और पुरुष दोनों ही आत्मज्ञानी हो सकते हैं। रानी को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अब रात्री में वह एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के रूप में राजा के पास रहती थी और दिन में कुम्भज के रूप में। दोनों में इतनी गहरी मित्रता थी कि दोनों साथ खाते और साथ ही सोते थे, किन्तु राजा के मन में किसी प्रकार का विकार न होता था। एक दिन कुम्भज ने राजा से कहा—महाराज! जब मैं रात्री के समय स्त्री होता हूँ तो मुझे स्त्रियों

अनेक प्रकार की बातें सुनाईं और साधन की विधियाँ बतलाईं। राजा को धीरे धीरे आत्मज्ञान होने लगा। आत्मज्ञान के परिपक्व हो जाने पर उसकी स्थिति आत्मभाव में हो गई, और वह जीवन्मुक्त हो गया। अब उसके मुख पर सदैव प्रसन्नता रहती थी। हर्ष और शोक से वह परे था। किसी कारण से भी उसकी शान्ति भङ्ग नहीं होती थी। हर हालत में वह खुशहाल रहता था। उसके लिये अब न कुछ हेय था और न उपादेय। वह सदा आत्मानन्द में मग्न रहता था। संसार के किसी सुख की न उसे वासना थी और न किसी दुःख से वह दुखी होता था।

रानी ने अब उसकी परीक्षा करनी चाही। एक दिन कुम्भज बड़ा दुःखी और शोकातुर होकर राजा के पास आया। राजा ने पूछा, मित्र! आज आपका मन क्यों इतना उदास है? आप तो आत्मज्ञानी हैं, आपको शोक क्यों हुआ? कुम्भज बोले, महाराज! क्या कहूँ, मुझे कहते भी लाज मालूम पड़ती है। मैं जब देवलोक से आपके पास चला आ रहा था तो मुझे दुर्वासा ऋषि नाना प्रकार के भूषण और वस्त्र धारण किए हुए रास्ते में मिले। मुझे उनका विचित्र वेष देखकर हंसी आ गई, और हास्य-भाव से मैंने कहा कि महाराज आप तो आज स्त्री मालूम पड़ते हैं। यह सुनकर उनको क्रोध आ गया, और उन्होंने मुझे शाप दे दिया कि मैं प्रत्येक रात को स्त्री बन जाया करूँगा। मुझे इस बात से इतनी लज्जा मालूम पड़ती है कि मेरा चित्त अब देवलोक को भी जाने को नहीं करता। आज से शापवश रात्री में मुझे स्त्री होना पड़ेगा। महाराज! यही कारण है जिससे मैं दुःखी हूं। राजा ने कहा, ऋषे! इसमें क्या हानि है? पुरुष हुआ तो क्या, और स्त्री हुई तो क्या? दोनों ही एक समान हैं। न कोई बुरा है और न कोई भला। शरीर ही तो स्त्री या पुरुष है, न कि आत्मा। जो जिस स्थिति में होता है उसको उसी में प्रसन्न रहना चाहिए। स्त्री और पुरुष दोनों ही आत्मज्ञानी हो सकते हैं। रानी को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अब रात्री में वह एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के रूप में राजा के पास रहती थी और दिन में कुंभज के रूप में। दोनों में इतनी गहरी मित्रता थी कि दोनों साथ खाते और साथ ही सोते थे, किन्तु राजा के मन में किसी प्रकार का विकार न होता था। एक दिन कुम्भज ने राजा से कहा—महाराज! जब मैं रात्री के समय स्त्री होता हूँ तो मुझे स्त्रियो-

विव इच्छाएँ होती हैं, और मेरे शरीर में काम का वेग इतना अधिक हो जाता है कि बिना पुरुष के सङ्ग फिर मैं दुःखी रहती हूँ। राजा ने कहा—जब तक शरीर है और इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं, अवश्य ही शरीर और इन्द्रियों के स्वाभाविक भोगों के भोगने की आवश्यकताएँ रहती हैं; ज्ञानी मनुष्य को उनका विरोध करना और उनको बलपूर्वक दबाना नहीं चाहिए। शरीर और इन्द्रियों के उचित आवश्यकतानुसार भोगों के भोगने से आत्मा की क्या हानि और न भोगने से आत्मा का क्या लाभ ? इसलिये, हे कुम्भज ! यदि स्त्री रूप में आपको स्त्री-सम्बन्धी इच्छा होती है तो यह स्वाभाविक ही है। इसलिये तुम किसी अपने मन को पसन्द आने वाले योग्य पुरुष को तलाश कर लो और उसकी पत्नी बन जाओ; ताकि तुम्हारा मन शान्त रहे और शरीर का वेग उसको चंचल न बनावे। कुम्भज बोला—महाराज आप मेरे इतने प्रिय मित्र हैं, आपकी और मेरे मन की वृत्ति एक सी ही है आपको मेरा प्रेम है और मुझे आपका प्रेम है। विद्वान् लोग यह कहते हैं कि जो सुख समान मनोवृत्ति वाले स्त्री-पुरुषों के सङ्ग रहने में होता है वह संसार के सब आनन्दों से बढ़कर है। इसलिये यदि मेरे लिये संसार में कोई भी उचित भर्ता है तो आप हैं। राजा ने कहा यदि तुम ऐसा समझते हो तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मेरी इसमें न कोई हानि है और न कोई लाभ। ऐसा होने से यदि तुमको सुख मिलता है तो ऐसा ही सही। पूर्णमासी को सायंकाल में मदनिका (जो कि कुम्भज के स्त्री-रूप का नाम था) और राजा ने अपना शास्त्र की विधि से विवाह कर लिया; और अब वे दोनों रात्री में पति और पत्नी के रूप से रहने लगे। लेकिन राजा के मन में किसी प्रकार का भी विकार न उत्पन्न हुआ। आत्मा में वही शान्ति और परम आनन्द रहता था। शरीर और इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वाभाविक कार्य करते थे। उसको इनमें ज़रा भी आत्माभिमान न था। रानी को यह देखकर कि अब राजा की आत्मपद में निश्चल स्थिति है बड़ी प्रसन्नता हुई। इस बीच में भी वह अपने राज्य की देख भाल करती रहती थी। सूक्ष्म शरीर द्वारा वह अपने राज को उड़ जाया करती थी और कर्मचारियों के कामों की देखभाल कर लिया करती थी।

अब उसने राजा के जीवन्मुक्त होने की एक और परीक्षा ली। उसने अपने योगबल से स्वर्गलोक के स्वामी इन्द्र की रचना की।

अनेक प्रकार की बातें सुनाईं और साधन की विधियाँ बतलाईं। राजा को धीरे धीरे आत्मज्ञान होने लगा। आत्मज्ञान के परिपक्व हो जाने पर उसकी स्थिति आत्मभाव में हो गई, और वह जीवन्मुक्त हो गया। अब उसके मुख पर सदैव प्रसन्नता रहती थी। हर्ष और शोक से वह परे था। किसी कारण से भी उसकी शान्ति भङ्ग नहीं होती थी। हर हालत में वह खुशहाल रहता था। उसके लिये अब न कुछ हेय था और न उपादेय। वह सदा आत्मानन्द में मग्न रहता था। संसार के किसी सुख की न उसे वासना थी और न किसी दुःख से वह दुखी होता था।

रानी ने अब उसकी परीक्षा करनी चाही। एक दिन कुम्भज बड़ा दुखी और शोकातुर होकर राजा के पास आया। राजा ने पूछा, मित्र! आज आपका मन क्यों इतना उदास है? आप तो आत्मज्ञानी हैं, आपको शोक क्यों हुआ? कुम्भज बोले, महाराज! क्या कहूँ, मुझे कहते भी लाज मालूम पड़ती है। मैं जब देवलोक से आपके पास चला आ रहा था तो मुझे दुर्वासा ऋषि नाना प्रकार के भूषण और वस्त्र धारण किए हुए रास्ते में मिले। मुझे उनका विचित्र वेष देखकर हँसी आ गई, और हास्य-भाव से मैंने कहा कि महाराज आप तो आज स्त्री मालूम पड़ते हैं। यह सुनकर उनको क्रोध आ गया, और उन्होंने मुझे शाप दे दिया कि मैं प्रत्येक रात को स्त्री बन जाया करूँगा। मुझे इस बात से इतनी लज्जा मालूम पड़ती है कि मेरा चित्त अब देवलोक को भी जाने को नहीं करता। आज से शापवश रात्री में मुझे स्त्री होना पड़ेगा। महाराज! यही कारण है जिससे मैं दुःखी हूं। राजा ने कहा, ऋषे! इसमें क्या हानि है? पुरुष हुआ तो क्या, और स्त्री हुई तो क्या? दोनों ही एक समान हैं। न कोई बुरा है और न कोई भला। शरीर ही तो स्त्री या पुरुष है, न कि आत्मा। जो जिस स्थिति में होता है उसको उसी में प्रसन्न रहना चाहिए। स्त्री और पुरुष दोनों ही आत्मज्ञानी हो सकते हैं। रानी को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अब रात्री में वह एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के रूप में राजा के पास रहती थी और दिन में कुंभज के रूप में। दोनों में इतनी गहरी मित्रता थी कि दोनों साथ खाते और साथ ही सोते थे, किन्तु राजा के मन में किसी प्रकार का विकार न होता था। एक दिन कुम्भज ने राजा से कहा—महाराज! जब मैं रात्री के समय स्त्री होता हूँ तो मुझे स्त्रियो-

विश्वास हुआ। राजा उससे बहुत प्रसन्न हुए, और उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की। रानी के कहने से अब राजा अपनी राजधानी को वापिस आकर जीवन्मुक्त रहते हुए राज्य करने लगे। बहुत काल तक भली भाँति राज्य करके, प्रजा को सुखी करके विदेह मुक्त हो गए।

इस कथा को सुनकर रामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न हुए। वसिष्ठजी ने कहा—हे राम! स्त्रियों का निरादर की दृष्टि से न देखो। जो अच्छे कुल की स्त्रियाँ होती हैं वे अपने पति को संसार-सागर से पार करने में मदद करती हैं —

मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि।
पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥१॥
शास्त्रार्थगुरुमन्त्रादि तथा नाशायनक्षमम्।
यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तॄणां कुलयोषितः ॥२॥
सखा भ्राता सुहृद्भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम्।
शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गना ॥३॥
सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः।
लोकद्वयसुखं सम्यगेतं यासु प्रतिष्ठितम् ॥४॥

अर्थात्—अनादि, अनन्त मोहसागर में गिरे हुए अपने पति को उद्योगशालिनी कुलाङ्गनाएं पार उतारती हैं ॥ १ ॥ शास्त्र, गुरु, मन्त्र आदि साधन उस मोहसागर से पार करने में इतने समर्थ नहीं हैं जितनी कि स्नेह से भरी हुई कुलाङ्गनाएं ॥ २ ॥ वे अपने पति की सखा, बन्धु, मित्र, भृत्य, गुरु, धन, सुख, शास्त्र, घर और दास सब कुछ हैं ॥३॥ इसलिये सदा, सब प्रकार से, इनकी पूजा करनी चाहिए क्योंकि इनके ऊपर ही इस लोक और परलोक का सुख पूर्णतया निर्भर है ॥४॥

३४—किराटोपाख्यान

किराट की कहानी द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को इस बात का उपदेश दिया कि मनुष्य को सदा और सब कामों में उद्योगशील होना चाहिए। किसी वस्तु को भी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। छोटे छोटे कामों में भी अपनी पूरी शक्ति का उपयोग करना चाहिए। ऐसा करने से कभी-कभी छोटे-छोटे कामों द्वारा बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

विन्ध्याचल की घाटी में एक बहुत धनवान् किन्तु कृपण किराट रहता समय जब कि वह एक घने जङ्गल के बीच से कहीं

इन्द्र अपने साथ देवताओं को लेकर राजा के सामने आकर उपस्थित होकर कहने लगे—महाराज ! आप स्वर्गलोक में चलिए और वहाँ पर नाना प्रकार के भोग और ऐश्वर्य भोगिए। राजा ने कहा, हे देवराज ! मुझे तो सब ओर स्वर्ग ही दिखाई पड़ता है ! मेरे मन में परम तृप्ति है और मेरे आत्मा में परम आनन्द है। मुझे स्वर्ग के किसी भी भोग की इच्छा नहीं है।

कुछ दिन पीछे रानी ने राजा की एक और परीक्षा ली—सायंकाल के समय, जब कि राजा संध्यावन्दन के लिये गङ्गा के तीर पर गए थे, उसने अपने योगबल से एक बहुत सुन्दर और तेजवान् युवक की रचना की। राजा के वापिस होने के समय वह युवक और मदनिका दोनों एक दूसरे के साथ प्रेम व्यवहार कर रहे थे, और एक दूसरे के साथ गाढ़ आलिङ्गन में होकर संसार की और परिस्थिति को भूल गए थे। राजा ने अपनी कुटिया पर आकर यह दृश्य देखा और और देखते ही बाहर चले आए जिससे कि युवक और मदनिका के प्रेमालिंगन के सुख में किसी प्रकार का विघ्न न हो। मदनिका तुरन्त उठकर बाहर आई और राजा के सामने दीन भाव से खड़ी होकर अपने आचरण की क्षमा माँगने लगी--महाराज, मैं अपराधिनी हूँ ! क्षमा कीजिए ! मैं स्त्री हूँ, और स्त्री में पुरुष से अष्टगुणा काम होता है; इसलिये मेरी वृत्ति इस पुरुष को देखकर उसकी ओर खिच गई। राजा बोले—मदनिके ! मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति किसी प्रकार का भी क्रोध नहीं है। संसार के जितने प्राणी हैं वे सब सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं, और परस्पर इच्छित स्नेह से संसार में बहुत आनन्द मिलता है। इसलिये तुमने ऐसा किया तो उसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। मुझे कुछ शोक नहीं है। केवल आज से पीछे मैं तुम्हें अपनी वधूकी हैसियत से नहीं रक्खूगा। क्योंकि समाज में इस प्रकार का काम निन्द्य समझा जाता है। आज से तुम मेरे साथ पहिले की नाईं मित्र की हैसियत से सुखपूर्वक रहो। राजा के इस प्रकार के समभाव को देखकर रानी बहुत प्रसन्न हुई और उसी समय मदनिका के रूप का त्याग करके चुडाला के रूप में राजा के सामने प्रगट हो गई। राजा को चुडाला को देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। कुछ काल तक तो उसे विश्वास ही न हुआ और अपने ज्ञान को भ्रम समझता रहा। चुडाला ने जब सब हाल कह सुनाया, तब राजाको उसके चुडाला होने का

जा रहा था। उसकी जेब से एक कौड़ी निकल पड़ी। उसे यह मालूम हुआ तो वह उस कौड़ी को ढूँढने लगा। चारों ओर कौड़ी को ढूँढते-ढूंढते उसे तीन दिन बीत गए। जिन लोगों को मालूम हुआ कि एक कौड़ी के लिये किराट इतना व्यग्र हो रहा है उसकी हँसी उड़ाने लगे। किन्तु उसने किसी के हँसने की परवाह की और अपनी खोई हुई कौड़ी को ढूँढता ही रहा। दैवयोग उसकी निगाह एक चमकती हुई चिन्तामणि पर जा पड़ी। उसे देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसके कई दिनों के परिश्रम का फल उसे चिन्तामणि पाने से मिल गया। यदि वह कौड़ी के खो जाने की परवाह न करता और उसको तुच्छ समझ कर आगे चल होता, तो उसे चिन्तामणि की प्राप्ति न होती।

३५—मणिकाचोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा चुडाला रानी ने अपने स्वामी राजा शिखिध्वज को यह समझाया था कि मनुष्य को जो-जो उत्तम पदार्थ और साधना अपने घर पर सुलभतया प्राप्त हों उनकी अवहेलना करके दूसरी जगहों पर और-और पदार्थों और साधनों के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए। ऐसा करने से जो मनुष्य को प्राप्त है वह तो नष्ट हो ही जाता है, दूसरी वस्तुएँ और साधन भी नहीं मिलते। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह उन वस्तुओं और साधनों का जो उसे सुलभतया प्राप्त हैं, सदुपयोग करे और अप्राप्त वस्तुओं और साधनों की तलाश में मारा-मारा न फिरे।

एक बहुत उद्योगी और धनसम्पन्न पुरुष ने चिन्तामणि रत्न की प्रशंसा सुन रक्खी थी। उसके मन में चिन्तामणि को प्राप्त करने की तीव्र वासना उदय हुई। वह चिन्तामणि की तलाश में घर से बाहर निकला। थोड़ी ही दूर जाने पर उसको चिन्तामणि नामक रत्न मिल गया। चूँकि वह रत्न उसे अपने घर के पास ही और बिना किसी प्रयत्न किए हुए मिला था, उसको इसके चिन्तामणि होने का विश्वास नहीं हुआ। उसने तो यह सुन रक्खा था कि चिन्तामणि रत्न बहुत प्रयत्न और खोज करने पर मिलता है, और बड़े भाग्यवान् मनुष्य को ही मिलता है। अतएव उसने उस वस्तु के चिन्तामणि होने में सन्देह किया और उसे काँच समझ कर फेंक कर चिन्तामणि की खोज में आगे